श्रमन ह्वी-ली लिखित

चीनी यात्री सुयेन-च्वाँग

जीवन-वृत्तान्त और भारत-यात्रा

अंग्रेज़ी अनुवादक

सम्यूअल बील, बी० ए०, डी० सी० एल०

हिन्दी अनुवादक

सत्य जीवन वर्म्मा, एम-ए०

[श्रीभारतीय]

१९४२

शारदा प्रेस, प्रयाग

परिचय

श्रीभारतीयजी द्वारा अनुवादित यह ग्रन्थ आज बहुत दिनों बाद प्रकाशित हो रहा है।

संवत् १९८८ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने श्रीभारतीयजी को इस आशय का एक पत्र लिखा था।

प्रिय महाशय

आप को विदित होगा कि सभा ने आप के स्वर्गवासी पिता द्वारा "स्वेन-च्वाँग" का हिन्दी अनुवाद कराया था। पर दुःख है कि यह अनुवाद अधूरा ही रह गया। सभा की इच्छा है कि आप इस अनुवाद को पूरा कर दें और जितने अंश का अनुवाद हो चुका है उसकी भाषा में आवश्यक संशोधन कर दें जिस से आप के पिता जी की यह कृति अधूरी न रह जाय और सभा इसे प्रकाशित कर दे। आशा है कि आप कृपा-पूर्वक इसे स्वीकार करेंगे।

काशी — भवदीय

२२-८-१९८८ सं० — प्रधान मंत्री

श्रीभारतीयजी ने सभा की आज्ञा शिरोधार्य्य कर कार्य्यभार अपने ऊपर लिया। सभा ने भी इस कार्य्य के लिए उन्हें कुछ पारिश्रमिक देना भी निश्चय किया और लिखा कि 'समिति की इच्छा है कि पुस्तक यथाशीघ्र तय्यार हो जाय।'

यह सन् १९३२ की बात है।

श्रीभारतीयजी ने अनुवाद का कार्य्य तुरंत आरंभ कर दिया और सुयेन-च्वाँग का दूसरा भाग समाप्त किया। पहले भाग का अनुवाद

विषय-सूची

चीनी यात्री सुयेन-च्वाँग

जीवन-वृत्तान्त और भारत-यात्रा

अध्याय १

काउ-शी में सुयेन-च्वाँग का जन्म और काउ-चाँग तक की यात्रा।

वंश

आचार्य[1] का बचपन का नाम 'सुयेन-च्वाँग'[2] था। उसका, साधारण वंश का नाम 'चिन' था। वह 'चिन-लु' का रहने वाला था। वह 'चाँग-काँग' वंश का था जो 'हान' वंश के शासन-काल में 'ताइ-किउ' का अधिपति था। उसका प्रपितामह 'किन[3]', 'शाँग-ताँग' का अधिपति था जो पिछले 'वी' वंश के अधीन था। इसके पितामह 'काँग' ने अपनी विद्वत्ता के कारण राज्य-कर्मचारियों में स्थान प्राप्त किया था। 'त्सी' वंश के राजत्व काल में वह पेकिन विश्वविद्यालय का प्रधान नियुक्त हुआ और उसे 'चाउ-नान' नगर की आय भरण-पोषण के लिए मिली। इस प्रकार उसने अपने वंशजों के लिए सम्पत्ति स्थापित की। उसका जन्म 'काउ-शी' प्रदेश में

---

[1]चीनी उपाधि फा-सी (Fa-see) का यह अनुवाद है। यह सुयेन-च्वाँग के लिए आता है। [2]कुछ लोग ह्वान-च्वाँग, ह्वेन-काँग इत्यादि कहते हैं, पर पेकिन का उच्चारण सुयेन-च्वाँग प्रामाणिक माना जाता है। [3]वाटर्स 'चिन' पढ़ते हैं।

हुआ था। आचार्य का पिता 'हुई' अपनी श्रेष्ट विद्वत्ता और सदाचार के लिए प्रसिद्ध था। छोटी आयु में ही वह धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने लगा। क़द में वह आठ फुट[1] ऊँचा था। उसकी भृकुटी स्पष्ट रेखावाली और उसकी आँखें प्रकाशमय थीं। वह लम्बा लबादा पहनता और कमर को कस कर बाँधता। उसे विद्वान बनना प्रिय था। उस युग में रह कर, दूर प्रदेश का होकर भी, वह सीधे-सादे तरीके से और संतुष्ट रहता था। उसे प्रतिष्ठा अथवा उपाधि की चाह न थी।

'स्वी' वंश का पतन काल आया जान कर, वह ग्रंथों के अध्ययन में दत्तचित्त हुआ। कई बार प्रान्तों तथा प्रदेशों की नौकरी उससे स्वीकार करने की प्रार्थना की गई, परन्तु उसने प्रत्येक बार उन्हें अस्वीकार किया। उसने सरकारी नौकरी अस्वस्थता के बहाने अस्वीकार की। इस प्रकार वह एकान्तवास में रहा। उसके परिचित लोग उस पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

बाल्यावस्था

उसके पिता के चार पुत्र थे, जिनमें आचार्य (सुयेन-च्वाँग) चौथा (सब से छोटा) था। लड़कपन ही से सुयेन-च्वाँग राजकुमार की भाँति गंभीर और प्रतिभावान था। जब यह आठ वर्ष का था, उसका पिता उसके समीप मेज़ के निकट बैठा हुआ ज़ोर से 'हियाव'[2] नामक प्राचीन ग्रंथ पढ़ रहा था। पढ़ते-पढ़ते जब वह उस प्रसंग पर आया जहाँ 'चाँग-च्यू' अपने पिता की आज्ञा पाते ही विनीत भाव से उसके आगे उपस्थित हुआ था, उस समय बालक सुयेन-च्वाँग अपने वस्त्र सँभाल कर अपने पिता के सामने खड़ा हो गया। उसके पिता ने कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया, " 'चाँग-च्यू' अपने गुरु (पिता) की आज्ञा पाकर अपने

---

[1] यह फुट ११⁄₇ इंच का होता है (जूलियन)।

[2] यह ग्रंथ पितृ-भक्ति पर है।

स्थान पर खड़ा हो गया था, तो पिता के मुख पर वही उपदेश सुनकर सुयेन-च्वाँग कैसे बैठा रहता।" इस उत्तर को सुनकर उसका पिता बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे यह भासित हो गया कि यह बालक आगे चलकर महान पुरुष होगा। उसने परिवार के और लोगों को बुलाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। यह सुनकर सब ने उसे बधाई दी और कहा, "यही तो उच्च वंश के लक्षण हैं।" लड़कपन ही में सुयेन-च्वाँग में इस प्रकार की अद्भुत बुद्धि थी।

इसी अवस्था से ही 'सुयेन-च्वाँग' धर्मग्रंथों का अध्ययन करता और ऋषियों की उक्तियों पर मुग्ध हो जाता था। जिस ग्रंथ में आचार और विनय न होता उन्हें वह कभी न पढ़ता। जो विद्वानों और धर्मोपदेशों के विरुद्ध होते, उनसे वह सरोकार न रखता। वह अपनी आयुवालों से न मिलता जुलता और न कभी हाट-बाज़ार में जाता। सड़क पर मेले-तमाशे निकलते, लड़के-लड़कियाँ खेल-कूद के लिए एकत्र होतीं। सब गाते, चिल्लाते, धमाचौकड़ी मचाते, पर सुयेन-च्वाँग घर से बाहर न निकलता। बचपन ही से वह घर ही पर पवित्रता और विनय का अभ्यास करता था।

शिक्षा

उसका दूसरा भाई 'चाँग-ची' बौद्ध-भिक्षु हो गया था। वह 'लोयाँग'[1] में 'चिंग-तू' नामक संघाराम में रहता था। सुयेन-च्वाँग का बौद्ध-धर्म ग्रंथों में प्रेम देखकर, वह उसे अपने संघाराम में ले गया और उसे (बौद्ध) धर्म-ग्रंथों[2] के सिद्धान्तों और तदनुसार आचरण की शिक्षा देने लगा।

भिक्षु-निर्वाचन

इसी बीच एकाएक राजाज्ञा हुई कि 'लो-याँग' में चौदह ऐसे भिक्षु चुने जायँगे, जिन्हें राजा की ओर से भरण-पोषण का व्यय मिलेगा। सैकड़ों प्रार्थना पत्र आये।

---

[1] यह पूर्वी प्रदेशों की राजधानी थी। [2] बौद्ध धर्म ग्रन्थों से तात्पर्य है।

आचार्य सुयेन-च्वाँग अल्पवयस्क होने के कारण उम्मेदवार न हो सकता था। परन्तु उसने परीक्षा-गृह के द्वार पर आसन जमाया। इसी अवसर पर स्वयं विषयपति 'चिंग-शेन-को' ने, जो देखते ही लोगों के गुण की पहचान कर लेता था, सुयेन-च्वाँग को देखकर पूछा, "तुम कौन हो?" सुयेन-च्वाँग ने अपना परिचय दिया। उसने फिर पूछा, "क्या तुम निर्वाचित होना चाहते हो?" सुयेन-च्वाँग ने उत्तर दिया, "चाहता तो हूँ, परन्तु अल्प आयु का होने के कारण मैं निर्वाचन से अलग कर दिया गया हूँ।" फिर विषयपति के पूछा, "तुम भिक्षु होकर क्या करोगे?" सुयेन-च्वाँग ने उत्तर दिया, "भिक्षु होकर मेरा विचार केवल तथागत के धर्म की ज्योति फैलाने का है।"

'शेन-क्वो' यह विचार सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने युवक का भव्य रूप देखकर उसे निर्वाचित कर दिया और अधिकारियों के पास उसे ले जाकर उसने कहा, "उपदेशों की पुनरावृत्ति करनी सहज है परन्तु वास्तविक निग्रह और साहस विरले ही में देखा जाता है। यदि तुम लोग इस युवक को चुन लो तो यह निश्चय शाक्य मुनि के धर्म का एक प्रधान अनुयायी होगा। मुझे दुख केवल इस बात का है कि न मैं, न तुम लोग, उस समय तक जीवित रहोगे, जब इस होनहार मेघ से अमृतमय ओस-कणों की (सद्धर्म की) वर्षा होगी। फिर भी मेरी धारणा है कि इस सच्चरित्र युवक के प्रशंसनीय चरित्र में किसी प्रकार का ग्रहण नहीं लगेगा।"

इस प्रकार विषयपति 'चिंग' की बात सभी ने स्वीकार की। भिक्षु निर्वाचित होकर सुयेन-च्वाँग अपने भाई के साथ रहने लगा। उस समय संघाराम में एक आचार्य भिक्षु 'किंग' नामक रहता था। वह निर्वाण सूत्रों का पारायण तथा अध्ययन करता था। सुयेन-च्वाँग ग्रंथों को पाकर उनके अध्ययन में ऐसा दत्तचित्त हुआ कि उसे खाना-पीना भूल गया। वह आचार्य 'येन'

धर्मग्रंथों का अध्ययन

की अध्यक्षता में महायान शास्त्रों का अध्ययन कर रहा था। इस प्रकार विद्याध्ययन में उसका प्रेम दिनों-दिन बढ़ता गया। किसी ग्रंथ को एक बार सुनकर वह उसे हृदयंगम कर लेता, दूसरी बार पढ़ने पर वह उसको पूर्ण रूप से समझ लेता। सब का सब उसे कंठाग्र हो जाता। भिक्षु-संघ इस पर आश्चर्य चकित होता था। उनके कहने पर जब वह उपदेश के आसन पर खड़ा होता और वह धर्म के गूढ सिद्धान्तों का अत्यन्त समुचित, विशद् और सूक्ष्म रीति से व्याख्या करता तो भिक्षु-संघ चकित रह जाता। आचार्य तथा आदरणीय भिक्षुगण एकाग्र चित्त होकर उसकी व्याख्या सुनते। इस प्रकार उसने अपनी ख्याति की नींव डाली। इस समय सुयेन-च्वांग की अवस्था केवल तेरह वर्ष की थी।

इसके बाद ही 'सुई' वंश अपना राज्य खो बैठा, और देश में चारों ओर विप्लव मच गया। राजधानी लुटेरों का अड्डा बन गई। 'हो' और 'लो'[1] उजड़-सा गया। राजकर्मचारी मार डाले गये। भिक्षुगण या तो मृत्यु के मुख में गये या भाग खड़े हुए। सड़कों में केवल नर-कंकालों और जले हुए मकानों के खंडर दिखाई पड़ते थे। 'वाँग-टाँग' के विप्लव और 'लिउ-शी' के भयानक उपद्रव के पश्चात्; जिसमें चारों ओर लूट-फूक और मार-काट का बाज़ार गरम था—ऐसी विपत्ति कभी साम्राज्य पर नहीं आई थी। आचार्य यद्यपि अल्प आयु का था, पर वह इन सब उपद्रवों की प्रकृति समझता था। अतएव उसने अपने भ्राता से प्रेम-पूर्वक कहा, "यद्यपि यह हमारी जन्म भूमि है फिर भी ऐसी अवस्था में यहाँ हमारी जान के लाले पड़े हैं। मुझे मालूम हुआ है कि 'ताँग' के राजा ने 'चिंग-याँग' के लोगों को हरा दिया है और उसने 'चाँगान' में अपना राज्य स्थापित किया है। देश भर उस पर विश्वास करता

---

[1] 'हो' और 'लो' जनपद या उनके नदियों के मध्य का प्रांत।

है, जैसे लोग पिता-माता पर करते हैं। भाई चलो! हम लोग वहीं चलें।" भाई ने बात मान ली और दोनों ने वहाँ के लिए प्रस्थान किया।

यह 'ऊ-ते' का प्रथम वर्ष[1] था। इस समय देश में कोई नियमित शासन-व्यवस्था न थी। सारी सेना लड़ने-भिड़ने में लगी थी। कन-फूची और बौद्ध धर्मग्रंथों का कौन अध्ययन करता? सब लड़ाई-झगड़े में लगे थे। इस लिए राजधानी में कोई धर्म-संघ न था। इस पर सुयेन-च्वाँग को बड़ा दुख हुआ।

'शू' प्रस्थान

सम्राट 'याँग-ती'[2] ने अपने शासन के प्रथम वर्ष में पूर्वीय राजधानी में चार विहार स्थापित किये थे और उसमें रहने के लिए राज्य के नामी भिक्षुओं को आमंत्रित किया गया था। जो लोग उसमें रहने आये थे वे बड़े विद्वान थे। इस प्रकार बहुत से प्रसिद्ध धर्मोपदेशक वहाँ एकत्र हुए थे। इनमें 'किंग-तु' और 'साइ-चिन' प्रधान थे। राजा के शासन काल के अंतिम वर्ष में राज्य में उपद्रव खड़ा हो गया और खाने-पीने की सामग्री का अभाव हो चला। फलतः बहुत से लोग 'सिन' और 'शू'[3] प्रदेश में चले गये। उन्हीं के साथ ये भिक्षु भी थे। यह देख सुयेन-च्वाँग ने अपने भाई से कहा, "यहाँ कोई धर्म कार्य्य नहीं हो सकता है और हमारा इस प्रकार अकर्मण्य रहना भी ठीक नहीं। चलो, हम लोग भी 'शू' प्रदेश में चलकर अपना अध्ययन आरंभ करें।"

उसका भाई राज़ी हो गया। वे दोनों 'चेऊ-चू' उपत्यका को पार कर 'हान-च्युयेन' में प्रविष्ट हुए। वहाँ वे 'काँग' और 'किंग' नामक प्रधान भिक्षु विद्वानों से मिले। ये भिक्षु इन भाइयों को देखकर प्रेम से गद्‌गद् हो

---

[1]ई० सन् ६१८, [2]सुई वंश का दूसरा नृप—ई० ६०५-६१७ तक। [3]उत्तर पश्चिम और दक्षिण पश्चिम चीन का प्रदेश।

गये। दोनों भाई इनके साथ एक मास और कई दिन रहे और पठन-पाठन करते रहे। इसके पश्चात् दोनों 'शिंग-तु' नगर चले गये। यहाँ बहुत से भिक्षु एकत्र थे, अतः इन लोगों ने यहाँ एक संघ की स्थापना की[1]। इस प्रकार उनको फिर 'साई-चिंग' को 'शी-लू' (महायान सम्परिग्रह शास्त्र) और 'पि-टान' (अभिधर्म शास्त्र) का उपदेश करते, हुए सुनने का अवसर मिला। आचार्य 'चिन' कियायेन (कात्यायन) के ग्रंथों की व्याख्या करता था। इस प्रकार निरंतर अध्ययन करके बड़े परिश्रम से दो तीन वर्षों में दोनों ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया।

उपदेश करना

इस बीच देश में अकाल पड़ा और उपद्रव मचा। केवल 'शू' में शान्ति और खाने-पीने का सुख था। अतएव चारों ओर के भिक्षु वहीं पहुँचे और हज़ारों एकत्र होकर वहाँ उनका उपदेश सुनते थे। सुयेन-च्वाँग अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता और श्रेष्ट तर्क-प्रतिभा से उन लोगों से ऐसा बढ-चढ़कर निकला कि सारे 'वू', 'शू' और 'खिंग' और 'त्सू' प्रदेश में कोई ऐसा न बचा, जिसने सुयेन-च्वाँग को उपदेश करते न सुना हो। लोग 'ली' और 'कवो' नामक वृद्ध आचार्यों की भांति उसके उपदेश और तर्कना सुनने को उमड़ पड़ते।[2]

आचार्य का भाई

आचार्य अपने भाई के साथ ही रहने के लिए 'शिंग-तू' के 'हङ्ग-हुई' विहार में रहने लगा। उसका भाई भी अपनी साधुता के लिए प्रसिद्ध था और वह अपने पिता की भाँति ही शान्त और भव्य था। बौद्ध तथा अन्य धर्म के सिद्धान्तों के प्रति उस

---

[1]अथवा धार्मिक सभा की स्थापना की।

[2]देखो मेयर्स (Mayers) ३७६ और ३०४।

का प्रेम समान था। वह निर्वाण सूत्र, 'शि-ता-सिंग' शास्त्र तथा 'अभिधर्म शास्त्र' पर व्याख्यान देता था। वह साहित्य तथा इतिहास का भी विद्वान था। परन्तु वह विशेष रूप से 'लाउ' (त्सू) और 'च्वाँग'[१] का ज्ञाता था। 'शू' के लोग उससे इतने प्रसन्न थे कि उस प्रदेश के शासक 'चान-कङ्ग' ने उसे श्रेष्ठ सम्मान का चिन्ह प्रदान किया। वह जब किसी विषय पर लिखने या बोलने को उठता तो उसकी मुद्रा ऐसी गंभीर और उसकी तर्कना ऐसी प्रशान्त होती थी कि उसे कोई उसके भाई (सूयेन-च्वाँग) से कम न समझता था।

'सुयेन-च्वाँग' गंभीर, शान्त स्वभाव का और एकान्त-प्रिय था। वह भीड़-भाड़ से अलग रहता। सांसारिक बातों से जी बचाता था। उसकी दृष्टि सर्वत्र पड़ती और वह प्रकृति के निहित रहस्यों का चिंतन करता था। उसकी उत्कट अभिलाषा तथागत के उपदेशों को समझने और उनका पुनरुद्धार और लोक में प्रचार करने की थी। वह कष्ट झेलने को तैयार रहता था। उसका मन, यदि वह सम्राट के सामने भी एकाएक जा पहुँचे, तो भी केवल अत्यधिक प्रौढ़ और दृढ़-संकल्प ही होता था। इन बातों में वह अपने भाई से बढ़ा हुआ था। परन्तु दोनों अपने विनय और शील में समान थे। वे अपने साथियों में सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध थे। इसलिए 'लू-शान' के भिक्षु उनको नहीं पा सकते थे।

आचार्य का स्वभाव

जब सुयेन-च्वाँग ने अपना बीसवाँ वर्ष समाप्त किया, अर्थात् 'ऊ-ते' के पाँचवें वर्ष में, तो उसने 'शिंग-तू' में प्रव्रज्या ग्रहण की। चौमासे में उसने विनय के पाँच प्रकरणों और सात अध्यायों का अध्ययन किया।[२] इसके अनन्तर उसने सूत्रों और शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया। उसके पश्चात् उसका

प्रव्रज्या

---

[१]देखो मेयर्स—९२। [२]यहाँ अर्थ स्पष्ट नहीं है।

विचार पुनः एक बार राजधानी जाने का हुआ जिसमें वह स्थानीय विद्वानों से अपनी उन शंकाओं का समाधान कर सके, जो उसके अध्ययन करते समय उपस्थित हुई थीं। उसके भाई ने उसे ऐसा करने से मना किया। तब सुयेन-च्वांग चुपके से कुछ व्यापारियों के साथ चल पड़ा और नदी मार्ग से तीनों घाटियों को पार करता हुआ, वह 'हाँग-चाउ' में पहुँचा और 'तियन-ह्वाँग' नामक मन्दिर में ठहरा। उस प्रदेश के भिक्षु और श्रावक उसकी प्रशंसा सुन चुके थे। उन्होंने उससे धर्म ग्रन्थों की व्याख्या करने की प्रार्थना की। आचार्य ने 'शी-लुन' और 'अभिधर्म' पर उपदेश दिया। ग्रीष्म से शरद् ऋतु तक उसने इनकी तीन आवृत्तियाँ कीं।

शास्त्रार्थ

इस समय 'हान-याँग' के नृपति ने अपनी धर्मभीरुता तथा उदारता से अपनी प्रजा को अपने वश और शासन में कर रखा था। आचार्य का आना सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे स्वयं अभिवादन करने गया। उसके व्याख्यानों के अवसर पर राजा, उसके कर्मचारी गण, गृहस्थ लोग और भिक्षुगण सभी उसका दर्शन करने तथा उसके उपदेशों को सुनने के निमित्त एकत्र होते। लोगों ने सुयेन-च्वांग से एक दिन सभा करके शास्त्रार्थ करने के लिए अनुरोध किया। सुयेन-च्वांग ने सब के प्रश्नों का उत्तर दिया और सब को युक्तिसंगत उत्तर मिला। सब ने उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की। विद्वानों को अपने पराजय पर दुख भी हुआ।

राजा ने तब आचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे बहुत सा उपहार देना चाहा पर सुयेन-च्वांग ने लेना अस्वीकार किया। शास्त्रार्थ के पश्चात् आचार्य बड़े-बड़े भिक्षुओं की खोज में उत्तर की

कदाचित इससे तात्पर्य 'महिशासक' संप्रदाय के विनय से हो। सात अध्यायों से तात्पर्य आचार शास्त्र के अध्यायों से हो।

ओर गया। 'हौंग-चाउ' पहुँच कर उसने अपनी शंकाएँ 'हिउ' नामक परम विद्वान् आचार्य के सामने रखी और उससे उसका समाधान करने की प्रार्थना की।

वहाँ से वह 'चिउ-चाउ' पहुँचा। वहाँ वह 'शिन' नामक विदान से मिला और 'शिन-शी-लुन' (सत्य सिद्ध व्याकरण शास्त्र) का उसने अध्ययन किया। इसके उपरान्त वह 'चौंगान' पहुँचा और 'ता-हिश्रो' (महाबोधि) नामक विहार में ठहरा। वहाँ 'यो' नामक विद्वान् से उसने 'क्यु-शी' (कोष) शास्त्र का अध्ययन किया। एक आवृत्ति करने के पश्चात् उसे सम्पूर्ण शास्त्र कंठाग्र हो गया। छोटे-बड़े कोई उसे नहीं पा सकते थे। कठिन-से-कठिन अंशों का अर्थ समझते और उसे उसकी तह तक पहुँचते देख लोग उस पर आश्चर्य करते थे।

चौंगान

'चौंगान' में 'शांग' और 'पिंग' नामक दो आचार्य रहते थे। इन दोनों ने दोनों 'यानों' और तीनों उपांगों का मनन किया था। ये दोनों राजधानी में भिक्षुओं के नेता थे। सारे देश में उनकी प्रशंसा की धूम थी। भिक्षु, गृहस्थ सभी उनके पास आते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर पहुँची थी। उनके अगणित शिष्य थे। सूत्रों के विद्वान् होते हुए भी 'शी-न-लुन' पर विशेष रूप से व्याख्यान देना इन्हें प्रिय था। हुयेन-च्वांग 'सू' और 'चू' प्रदेश में अपनी प्रतिभा का प्रमाण दे चुका था। 'चौंगान' पहुँचते ही उसने लोगों से पूछताछ आरम्भ कर दी थी और उनकी शिक्षा की थाह उसे थोड़े ही दिनों में मिल चुकी थी। उन दोनों ने हुयेन-च्वांग की प्रतिभा पर आश्चर्य प्रगट किया। ये लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे, "महोदय आप शाक्य धर्म के लिए पथ-प्रदर्शक हैं। आप धर्म और ज्ञान का सूर्य उदय करेंगे। परन्तु हम वृद्ध हैं। हमें दुःख है कि हम वह दिन देखने को तब तक जीवित न रहेंगे।"

तब से शिष्य लोग उसकी भक्ति करने लगे और उसकी ख्याति नगर भर में गूंज गई।

सुयेन-च्वांग चारों ओर विद्वानों के पास जाता। उनसे अध्ययन करता और उनके सिद्धान्तों की परीक्षा करता। इस प्रकार उसे ज्ञात हुआ कि हर एक अपने-अपने मत का अनुसरण कर रहें हैं, परन्तु विचार करने पर उसे पता चला कि शास्त्रों का मत इससे बहुत भिन्न है। अब वह बड़े धर्मसंकट में पड़ा कि क्या करे, किसे माने। उसने तब शंकाओं का समाधान करने के हेतु पश्चिम देश (भारत) जाना निश्चय किया। वह अपने साथ 'शि-ही-ती-लुन' (शसदश भूमि शास्त्र) ले गया। जिससे कि वह अपनी शंकाएँ समझा सके। इस शास्त्र को अब 'यु-किअ-स्सी-ती-लुन'[१] कहते हैं। उसने सोचा, 'हमारे पूर्व 'फ़ाहिआन' और 'चि-येन' ने लोगों को सद् मार्ग दिखाने के लिये धर्म की खोज की है क्या मैं उनका अनुकरण कर उनकी धवल कीर्ति को अमर नहीं बना सकता। बड़े लोगों का अनुसरण ही अच्छे उपदेशकों का धर्म है।'

यात्रा की आवश्यकता

यह सोच कर उसने कुछ लोगों को लेकर राजाज्ञा के निमित जाने का विचार किया। परन्तु उस समय बाहर जाने की मनाही थी। इस पर औरों ने अपना विचार त्याग दिया। सुयेन-च्वांग अपने विचार पर दृढ़ रहा और उसने अकेले ही जाने का निश्चय किया। पश्चिम देश के मार्ग की कठिनाइयों और विपत्तियों को सुनकर वह मन में सोचने लगा कि मैंने मनुष्य पर पड़ने वाली अनेक विपत्तियों को झेला है तो इतने ही के लिए अपना निश्चय त्याग देना उचित नहीं। वह मन्दिर में पहुँचा और वहाँ देवता के सामने उसने अपनी अभिलाषा प्रकट की और प्रार्थना के पश्चात

यात्रा संकल्प

---

[१] योगाचार भूमि शास्त्र।

आधा लिया। इस धन से आचार्य ने सब विहारों में दीपक जलवाये और शेष धन उन्हीं अर्पण कर दिया। इस समय देश की नई शासन व्यवस्था हुई थी और उसकी सीमा बहुत विस्तृत न थी। लोगों के लिये कठिन नियम थे। कोई विदेश नहीं जाने पाता था। उस समय 'ली-ता-लियांग' नामक व्यक्ति 'लियांग-चाउ' का शासक था। राजाज्ञा के अनुसार वह किसी को बाहर नहीं जाने देता था। एक व्यक्ति ने आकर 'लियांग' को समाचार दिया कि यहाँ 'चौंगान' से एक भिक्षु आया है जो पश्चिम भारत की यात्रा करना चाहता है। मुझे उसका ठीक विचार नहीं ज्ञात है। 'लियांग' ने तुरन्त युवेन-च्वांग को बुला भेजा और उससे यहाँ आगमन का उद्देश पूछा। आचार्य ने उत्तर दिया, "मैं धर्म की जिज्ञासा के निमित्त पश्चिम जाने का विचार करता हूँ।" यह सुनकर 'लियांग' ने उसे राजधानी लौट जाने की अनुमति दी।

गुप्त यात्रा

उस समय 'लियांग-चाउ' में एक 'ह्वी-वी' नामक विद्वान रहता था। वह नदी के पश्चिम प्रदेश में भिक्षुओं में सर्वश्रेष्ठ विद्वान गिना जाता था। वह बड़ा विद्वान और महात्मा था। वह युवेन-च्वांग की विद्वत्ता की प्रशंसा करता था और धर्म की जिज्ञासा के निमित्त उसका पश्चिम जाने का विचार सुनकर वह बड़ा प्रसन्न था। उसने गुप्त रीति से उसके पास दो शिष्य भेजे कि वे उसे छुपकर पश्चिम पहुँचा आवें। इन शिष्यों में एक का नाम 'ह्वी-लिन' और दूसरे का 'ताउ-चिंग' था।

इस प्रकार वह रात में यात्रा करता और दिन में छिप कर बैठ रहता। कुछ दिन में वह 'क्वा-चाउ' नगर में पहुँचा। वहाँ का शासक युवेन-च्वांग का आगमन सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे बहुत सी खाद्य सामग्री भेजी।

आचार्य ने मार्ग का पता लगाया तो उसे ज्ञात हुआ कि उस स्थान से उत्तर पचास 'ली' या इससे कुछ अधिक दूर पर 'हू-लू' नामक

नदी पड़ती है। यह चढ़ाव की ओर सकरी पर उतार की ओर चौड़ी है। इसका प्रवाह बहुत तीव्र है और एकाएक बहुत गहरी हो जाती है कि इसमें नाव नहीं चल सकती। ऊपरी भाग में 'यूह-मेन' नामक चौकी है। यहीं से होकर लोग जाते हैं। यह स्थान पश्चिम सीमा की कुंजी है। इसके उत्तर-पश्चिमीय चौकी के आगे पाँच नाके हैं—जहाँ रक्षक लोग रहते हैं और देख-रेख करते हैं। ये गढ़ एक दूसरे से सौ ली की दूरी पर हैं। उनके बीच न कहीं पानी मिलता है न हरियाली देख पड़ती है। इन पाँचों नाकों के आगे 'मो-किय-येन' की मरुभूमि है। इसके बाद 'आइ-गू' राज्य पड़ता है।

बाधा

सुयेन-च्वाँग यह सुनकर बड़ा चिंतित और दुखी हुआ। उसका घोड़ा मर चुका था और उसे समझ न पड़ता था कि वह क्या करे। वह वहाँ पर एक मास के लगभग रुका। उसे बड़ी चिन्ता और दुख में विताया। उसके चलने के पूर्व 'लियाँग-चाउ' से चर आ पहुँचे और आकर कहने लगे, "सुयेन-च्वाँग नामक एक भिक्षु 'सी-फ़ान' देश जाने का विचार कर रहा है। सब प्रान्तों के शासकों को आज्ञा है कि उसे रोक लें।" उस प्रदेश का शासक 'ली-चाँग' धर्मभीर पुरुष था। उसने मन में सोचा कि हो न हो आचार्य ही वह भिक्षु है। वह चुपके से राजाज्ञा लेकर सुयेन-च्वाँग के पास पहुँचा और कहने लगा, "क्या आप ही वह व्यक्ति हैं?" आचार्य हिचका और चुप रहा। इस पर 'चाँग' ने कहा, "आचार्य को सच बोलना चाहिये। आप का शिष्य आप के यहाँ से जाने का कोई न कोई उपाय कर देगा।" तब सुयेन-च्वाँग ने सारी बातें सच-सच कह दीं। यह सुनकर 'चाँग' दंग रह गया और उसने कहा, "निश्चय आप दृढ़-संकल्पी हैं, अतः आप के लिए मैं इस आज्ञा पत्र को फाड़ डालूँगा।" यह कह कर उसने तुरन्त आचार्य्य के सामने उस राजाज्ञा को फाड़ डाला और बोला, "भगवन् आप कृपा कर यहाँ से शीघ्र चल दें!"

अब सुयेन-च्वाँग की चिंता और विकलता और भी बढ़ गई।

कठिनाई

उसके दो साथियों में से एक जिसका नाम 'ताउ-चिंग' था तुरन्त 'तुन-ह्वाँग' लौट गया। दूसरा 'ह्वी-लिन' अकेला रह गया था। आचार्य ने देखा कि वह इस लंबी यात्रा के योग न था और इसलिए उसने उसे भी लौटा दिया। आचार्य ने अपना घोड़ा तो बदल लिया पर उसे दुख यह था कि उसे मार्ग दिखलाने वाला कोई न था। अब वह मंदिर में लौटकर मैत्रेय की प्रतिमा के संमुख विनय से खड़ा होकर प्रार्थना करने लगा कि उसे कोई मार्ग दिखलाने वाला मिल जाय जो उसे चौकी के पार पहुँचा सके।

इसी रात को एक विदेशी भिक्षु ने, जो उस विहार में ठहरा था स्वप्न देखा। उसका नाम धर्म था। स्वप्न में उसने देखा कि सुयेन-च्वाँग कमल पर बैठा हुआ पश्चिम जा रहा है। धर्म को इस स्वप्न पर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रातः काल होते ही अपने स्वप्न की बात आचार्य से कही। सुयेन-च्वाँग इसे शुभ शकुन समझ कर मन में बड़ा आनंदित हुआ। उसने धर्म से कहा, "स्वप्न का क्या ठिकाना, इस पर विचार करना व्यर्थ है।" इसके उपरान्त आचार्य ने मन्दिर में जाकर परमात्मा को धन्यवाद दिया और उनकी पूजा की। इस समय एकाएक एक विदेशी मनुष्य मंदिर में भगवान की उपासना के निमित्त आया और उसने आचार्य की तीन बार प्रदक्षिणा की और उसका अभिवादन किया। आचार्य्य ने उसका तथा उसके गोत्र का नाम पूछा। विदेशी ने उत्तर दिया, "मेरे गोत्र का नाम 'शी' और और मेरा नाम 'पान-तो' (बन्ध) है। उस विदेशी ने तब सुयेन-च्वाँग से उसे पंचशील व्रत की दीक्षा देने की प्रार्थना की। आचार्य ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। इस पर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर लौट आने की आज्ञा लेकर चला गया। थोड़ी देर में वह रोटियाँ और फल लेकर लौटा। आचार्य ने उसकी दृढ़ता, विनय और बुद्धि का

परिचय पाकर उससे अपना पश्चिम जाने का विचार प्रगट किया। विदेशी तुरन्त राज़ी से गया और उसने सुयेन-च्वांग को पाँचों चौकियों के पार पहुँचा देने का बचन दिया। आचार्य इस पर प्रसन्न हुआ और उसने कुछ कपड़े तथा अन्य वस्तुएँ उसे इस लिए दीं कि वह उसे बदल कर एक घोड़ा मोल ले ले। मिलने का समय निश्चित कर आचार्य ने उसे बिदा किया।

दूसरे दिन सूरज डूबने पर वह झाड़ी के पास पहुँचा। यहीं थोड़ी देर पश्चात्, वह विदेशी एक वृद्ध अपरिचित पुरुष के साथ, जो लाल घोड़े पर सवार था, आ पहुँचा। आचार्य के मन में बड़ी व्याकुलता देख विदेशी ने कहा, "ये वृद्ध महाशय पश्चिम के मार्गों से भली भाँति परिचित हैं और 'आई-गू' तक अनेक बार आये गये हैं। मैं इसी लिये इन्हें ले आया हूँ। आप अब निश्चिन्त हो जायँ।" इस पर वृद्ध ने कहा, "पश्चिम जाने का मार्ग दुर्गम और कठिन है। मरुभूमि दूर तक मिलती है, भूत-प्रेत और लू से बचना कठिन है। बहुत से लोग साथ रहने पर भी भटक जाते हैं। आप तो एकेले जा रहे हैं। आप कैसे अपनी यात्रा पूरी कर सकेंगे? मेरी बात मान कर आप पहले भली भाँति सोच विचार कर यात्रा करें। अपनी जान पर खेलना ठीक नहीं।"

दृढ़-संकल्प

सुयेन-च्वांग ने उत्तर दिया, "इस दीन भिक्षु ने तो धर्म की जिज्ञासा के हेतु पश्चिम जाना निश्चय कर लिया है। यदि वह भारत न पहुँचा तो लौट कर यहाँ आवेगा भी नहीं। रास्ते में यदि प्राण गये तो कोई चिन्ता की बात नहीं।"

उस विदेशी वृद्ध ने तब कहा, "महाशय, यदि आप जाना चाहते हैं तो मेरे घोड़े पर चढ़ कर जाइये। यह कम-से-कम १५ बार 'आई-गू' जा चुका है। यह बलिष्ट और मार्ग से परिचित है। आप का

घोड़ा छोटा और यात्रा के अयोग्य है।" इस पर सुयेन-च्वाँग को 'चाँगान' की एक घटना याद आई। जब वह वहाँ अपनी यात्रा का विचार कर रहा था, वहाँ एक ज्योतिषी 'हो-वाँग-ता' नामक रहता था जो मंत्र पढ़कर लोगों का भविष्य बतलाता था। आचार्य ने उससे अपनी यात्रा के विषय में प्रश्न किया। 'ता' ने उत्तर दिया, "तुम्हारी यात्रा सफल होगी और तुम एक लाल घोड़े पर चढ़कर यात्रा करोगे। उसकी ज़ीन पर रोग़न किया हुआ होगा और उसके आगे लोहे की पटरी लगी होगी। घोड़ा दुबला-पतला होगा।"

यात्रा आरंभ

सुयेन-च्वाँग ने देखा कि वृद्ध पुरुष का घोड़ा उसी तरह का है जैसा ज्योतिषी ने कहा था। उसने सोचा कि अब कार्य संपूर्ण होने के शुभ लक्षण दिखाई पड़ने लगे। उसने अपना घोड़ा उससे बदल लिया। इस पर वृद्ध पुरुष बड़ा प्रसन्न हुआ और वह प्रणाम करके चला गया। अब अपना सामान बाँधकर आचार्य उस विदेशी युवक के साथ रात को चल पड़ा। तीसरी चौकी पहुँचने के पहले वे एक नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ से 'यूह-में' की चौकी थोड़ी दूर पर दिखाई पड़ती थी। नाके से दस ली ऊपर नदी दस फुट से अधिक चौड़ी न थी। दोनों किनारों पर 'वू-ताँग' की झाड़ियाँ थीं। विदेशी ने लकड़ी काट कर पुल बनाया। उस पर शाखाएँ फैला दीं और उस पर बालू भर दिया। इस प्रकार वे उस पर से घोड़ों को पार ले गये और आगे बढ़े।

एक घटना

नदी पार कर सुयेन-च्वाँग बड़ा प्रसन्न हुआ। थका होने से वह आराम करने लगा। विदेशी पचास पग पर अपनी चटाई बिछा कर लेटा। इस प्रकार दोनों सो गये। कुछ देर बाद विदेशी हाथ में नंगी छुरी लेकर आचार्य की ओर चला पर उसके समीप दस पग तक जाकर वह लौट पड़ा। उसका तात्पर्य्य न समझ कर और इस घटना पर पूरा विश्वास न करके आचार्य उठ

बैठा। उसने मंत्र जपा और 'क्वान-इन' बोधिसत्व की वन्दना की। यह देखकर वह विदेशी लौट पड़ा और जाकर सो रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल आचार्य ने उसे बुला कर पानी लाने को कहा। नहा-खा कर वह फिर चलने की तैयारी करने लगा। उसके साथी ने कहा, "आप की धुन आपको आगे लिए जा रही है। वहाँ मार्ग भयानक है और यात्रा दूर की है। रास्ते में कहीं चारा-पानी नहीं मिलता। पाँचवीं चौकी पार करने ही पर जल मिलता है।[1] वहाँ रात में जाने से ही पानी मिल सकेगा। रास्ता भी रात ही में चलना है, यदि कहीं देख लिए गये तो गर्दन मारी गई। इससे अच्छा तो यही है कि हम लोग लौट चलें और अपने प्राण संकट से बचायें।" आचार्य ने लौटना अस्वीकार किया। इस लिए वे दोनों आगे बढ़े।[2]

उसका साथी, पथप्रदर्शक, अपना छुरा हाथ में ले, धनुष चढ़ाकर सुयेन-च्वाँग से कहने लगा कि 'आप आगे आगे चलें!' परन्तु आचार्य इस पर राज़ी न हुआ। तब वह विदेशी स्वयं आगे आगे चलने लगा। कुछ ली जाकर वह रुक गया और कहने लगा, "आपका दास अब आगे नहीं जा सकता। उसे घर गृहस्थी भी देखनी है, अतः वह राज्य के नियम के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता।" आचार्य ने उसको घर लौट जाने की आज्ञा दे दी।

उस विदेशी युवक ने उत्तर दिया, "आचार्य! आप के लिए अपना संकल्प पूरा करना बड़ा कठिन है; रास्ते में पकड़ कर लौटा दिये जायँगे; आप बच नहीं सकते।"

---

[1]यह जूलियन का अनुवाद है। बील की राय है कि इससे तात्पर्य यह है कि पाँचों चौकियों के पास जल मिल सकता है।

[2]तात्पर्य यह है कि उसका साथी चारों ओर चौकन्ना होकर देख भाल करता चलता था।—बील

आचार्य ने उत्तर दिया, "चाहे वे मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले पर मैं पीछे पैर न हटाऊँगा। मैंने इसकी शपथ ले ली है।"

वह चुप हो गया। आचार्य ने उसे पुरस्कार स्वरूप अपना घोड़ा दे दिया[1]। दोनों एक दूसरे से बिदा हुए।

मरुभूमि की माया

अब अकेले आचार्य मरुभूमि पार करने लगा। हड्डियों और घोड़े की लीद से मार्ग पहचानता हुआ वह आगे बढ़ा; धीरे-धीरे लुकता-छिपता वह चला जा रहा था इतने में उसे सैकड़ों सवार मरुभूमि में फैले हुए दिखाई पड़े। वे कभी आगे बढ़ते, कभी रुक जाते। ये सिपाही ऊनी लबादे पहने थे। कभी उसे ऊँटों और घोड़ों, चमकते हुए पताकों और भालों का दृश्य दिखाई पड़ता; फिर तुरन्त नये-नये सहस्रों रूप दिखाई पड़ते। कभी दूर पर, कभी बहुत निकट—कभी वे एकाएक अदृश्य हो जाते थे।

पहली चौकी पहुँचना

आचार्य ने जब प्रथम यह दृश्य देखा तो उसने सोचा कि ये डाकू होंगे, पर जब उसने देखा कि ये निकट आकर अदृश्य हो जाते हैं तो उसे निश्चय हो गया कि यह भूतों की माया है। उसे आकाशवाणी सुनाई दी : "डरना नहीं! डरना नहीं!"

इस से वह निश्चिन्त हुआ और ८० ली चल कर उसे पहली चौकी देखाई पड़ने लगी। मन में यह सोच कर कि कहीं देख न लिया जाऊँ, सुयेन-च्वाँग संध्या तक एक बालू के गड्ढे में छिपा रहा। फिर निकल कर वह चौकी के पश्चिम गया। वहाँ उसे पानी मिला। उसने जल पीकर हाथ-मुँह धोया और वह अपने जलपात्र (मशक) को भरने लगा। इसी समय उसके पास से एक तीर सन्न से निकल

---

[1]कदाचित इससे तात्पर्य उस घोड़े से है जिस पर वह विदेशी चढ़ कर आया था। यह सुयेन-च्वाँग ने मोल लेकर उसे दिया था।

गया। उसका घुटना ज़रा सा छिल गया। इसके क्षण भर के बाद दूसरा तीर आया। उसने सोचा कि मैं देख लिया गया। अब वह ज़ोर से चिल्ला कर कहने लगा, "मैं राजधानी से आ रहा हूँ। मैं भिक्षु हूँ। मुझे मारो मत!" तब वह अपने घोड़े को लेकर चौकी की ओर चला। चौकी पर के रक्षक द्वार खोल कर बाहर आये। उन्होंने देखा तो वह सचमुच भिक्षु था। तब वे उसे अपने नायक के पास ले गये। नायक का नाम 'वाँग-सियाँग' था। 'वाँग' ने प्रकाश के लिए अग्नि जलवाई और कहने लगा, "यह 'हो-सी'[1] प्रान्त का भिक्षु नहीं है। यह अवश्य राजधानी से आ रहा है।" तब उसने आचार्य से यात्रा का उद्देश पूछा।

आचार्य ने उत्तर दिया "महोदय क्या आप ने 'लियान-चाउ' के लोगों के मुख से यह कभी नहीं सुना कि एक भिक्षु सुयेन-च्वाँग नामक धर्म की जिज्ञासा के हेतु ब्राह्मणों के देश (भारत) की यात्रा करने वाला है।" उसने उत्तर दिया, "मैंने तो सुना कि सुयेन-च्वाँग पूरब लौट गया। आप यहाँ क्यों आए हैं?" आचार्य उसे अपने घोड़े के समीप ले गया और उसे ऐसी वस्तुएँ दिखाईं जिन पर उसका नाम और उसकी उपाधि लिखी थी। इसे देख नायक को विश्वास हो गया कि यही सुयेन-च्वाँग है। उसने तब कहा, "महोदय पश्चिम का मार्ग लंबा और भयानक है आप अपने संकल्प में सफल-मनोरथ नहीं हो सकते। परन्तु मैं आप को मना नहीं कर सकता। मैं स्वयं 'तुन-ह्वाँग' का निवासी हूँ। वहाँ तक मैं आप को स्वयं पहुँचा दूँगा। वहाँ एक 'चाँग-कियाउ' नामक विद्वान है। वह विद्वानों और भिक्षुओं का बड़ा आदर-सत्कार करता है। वह आपको देख कर बड़ा प्रसन्न होगा। आप की क्या राय है?"

---

[1] 'तंगुत' प्रान्त।

आचार्य ने उत्तर दिया "मैंने 'लो-याँग' में जन्म लिया था। लड़कपन ही से मुझे धर्म में श्रद्धा है। दोनों राजधानी ['लो-याँग और चाँगान'] के विद्वान तथा 'वू' औ 'शू' के मुख्य-मुख्य भिक्षु—सभी मेरे पास शंका-समाधान के हेतु आते थे। उनके लिए मैंने धर्म की व्याख्या की है, शङ्काओं का निवारण कर धर्म का उपदेश दिया है। मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि इस समय मेरे इतना अध्ययन किसी का नहीं है। यदि मुझे विशेष यश और ख्याति की कामना होती तो मैं 'तुन-ह्वाँग' जाना उचित समझता। मुझे तो इस बात का दुख है कि हमारे धर्म ग्रंथ परस्पर विरोधी और अपूर्ण हैं। इस हेतु मैंने अपना सुख छोड़, जान जोखिम में डाल कर, धर्म की खोज में, पश्चिम यात्रा करने का संकल्प किया है कि वहाँ जाकर भगवान के मूल उपदेशों का अध्ययन करूँ। आप तो हमारे हितेक्षु हैं। आपको मुझे उत्साहित करना चाहिए। लौटने की तो बात ही न करनी चाहिए। आप कैसे कह सकते हैं कि हमारा आप का एक धर्म है—अर्थात् हम दोनों जीवन की अनित्यता में विश्वास करते हैं तथा मानते हैं कि धर्म करने ही से निर्वाण प्राप्त होता है[1]। परन्तु यदि आप मुझे रोकना चाहते हैं तो मुझे मार ही डालिए। सुयेन-च्वाँग पीछे एक पग न लौटेगा। वह अपने विचार पर दृढ़ है।"

'सियाँग' यह सुनकर आर्द्र हो गया और कहने लगा, "मेरे सौभाग्य से आप के दर्शन प्राप्त हुए। मैं किस प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट करूँ? पर आप थके मांदे हैं अतः आप प्रातःकाल तक आराम

---

[1] इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि "हम दोनों यदि बौद्ध हैं तो तथागत का उपदेश है 'जीवन को क्षणिक समझना, धर्म के मार्ग पर चल कर निर्वाण की प्राप्ति करना।' इसलिए आपको हमें रोकना न चाहिए।"

कीजिए। मैं स्वयं आप के साथ चलकर मार्ग दिखा दूँगा।" उसने तब आचार्य के लिए विस्तर लगाने की व्यवस्था कर दी।

चौथी चौकी को प्रस्थान

प्रातःकाल होने पर आचार्य ने कुछ जलपान किया। 'सियाँग' ने एक आदमी को उसका जलपात्र भर लाने को कहा। कुछ आँटे की रोटियाँ आचार्य को देकर वह उन्हें लेकर स्वयं १० ली तक पहुँचाने गया। वहाँ पहुँच कर 'सियाँग' ने उससे कहा, "महोदय इस स्थान से मार्ग सीधा चौथी चौकी तक जाता है। वहाँ का अधिकारी अच्छा आदमी है। वह मेरा संबंधी भी है। उसके गोत्र का नाम 'वाँग' है; उसका नाम 'पी-लुंग' है। जब आप उससे मिलें तो आप कह सकते हैं कि मैंने आप को उसके पास भेजा है।" यह कह कर वह आँखों में आँसू भर कर आचार्य से बिदा हुआ।

रात तक यात्रा करके आचार्य चौथी चौकी के निकट पहुँचा। यह डरकर कि कहीं रोक न लिया जाऊँ उसने सोचा कि चुपके से थोड़ा सा जल लेकर आगे बढ़ूँ। पानी के समीप पहुँचा भी न था कि एक तीर उसकी ओर आया। उसने पूर्व की भाँति पुकार कर कहा और चौकी की ओर बढ़ा। लोगों ने द्वार खोल दिया और वह भीतर गया। वहाँ के नायक के पूछने पर आचार्य ने उत्तर दिया, "मैं भारत जाने का विचार करके आया हूँ। पहली चौकी का नायक 'वाँग-सियाँग' ने मुझे आप से मिलने को कहा था।" यह सुन कर नायक बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने आचार्य को एक रात ठहराया। उसने उन्हें एक बड़ा सा चमड़े का जलपात्र (मशक) दिया और उसके घोड़े के लिए घास दी। आचार्य को पास बुला कर उसने कहा, "महाशय, अच्छा होता कि आप पाँचवीं चौकी पर न जाते क्योंकि वहाँ के लोग बड़े उजड्ड और नीच हैं। संभव है आप पर कोई विपत्ति आ जाय। यहाँ से एक सौ ली पर 'ई-मा' नामक नदी है वहाँ आप पानी ले सकते हैं।"

यहाँ से आगे चल कर सुयेन-च्वाँग 'मो-किय-येन' मरुभूमि में प्रविष्ट हुआ। यह ८०० ली चौड़ा है। इसका पुराना नाम 'शा-हो'[1] (बालू की नदी) है। न तो यहाँ पशु हैं, न पक्षि, न पानी, न पेंड़। समय-समय पर सूर्य की छाया देखकर वह बड़ी भक्ति से 'क्वान-शाइ-इन' बोधिसत्व का विनय करता और 'पन-जो-सिन' (प्रज्ञा-परमित-हृदय-सूत्र) का पाठ करता।

मरुभूमि प्रवेश

जब आचार्य 'शूह' में रहता था उस समय उसे एक व्यक्ति मिला था जिसका शरीर क्षत से भरा था। उसके कपड़े फटे और गंदे थे। उस पर दया करके वह उसे संघाराम में ले आया और उसे उसने वस्त्र और भोजन दिया। उस रोगी ने आचार्य को यह सूत्र ग्रंथ उपहार स्वरूप दिया था। इस लिए सुयेन-च्वाँग उसका बराबर पाठ किया करता था। 'शा-हो' पार करते समय उसे नाना प्रकार के भूत, पिशाच मिले जो उसके आगे-पीछे दिखाई पड़ते थे। यद्यपि उसने 'क्वान-इन' की स्तुति की पर वे न भागे। परन्तु जैसे ही आचार्य ने सूत्रों का पाठ आरंभ किया कि शब्दों का उच्चारण करते ही वे अदृश्य हो गए। जब उसे भय मालूम होता तब वह इसी सूत्र की शरण लेता।

सौ ली के लगभग यात्रा कर वह मार्ग भूल गया और 'ई-मा' नदी को लाख ढूँढने पर भी उसे न पा सका जहाँ कि वह जल ले सके। उस पर एक बात और हुई। जब वह जलपात्र की टोटी से पानी पी रहा था, भारी होने के कारण वह हाथ से छूट गई और सारा जल ढल गया। इस प्रकार १००० ली की यात्रा के लिये यथेष्ठ जल बात की बात में मिट्टी में मिल गया। इस पर एक दुख और था। टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग होने पर वह निश्चय न

मार्ग भूलना।

---

[1] अब भी चीन में इस सूत्र का, मंत्रों की तरह, लोग पाठ करते हैं—बील।

कर सकता था कि किस मार्ग से जाना चाहिए। अंत में उसने चौथी चौकी पर लौट जाना ही उचित समझा। दस ली जाने पर वह सोचने लगा, "मैंने प्रण किया था कि यदि मैं भारत न पहुँचा तो एक पग पीछे न लौटूँगा। मैं अब यह क्या कर रहा हूँ ? पश्चिम जाने के प्रयत्न में मर जाना अच्छा है, पूर्व की ओर जाकर जीते रहना अच्छा नहीं।" यह सोचकर उसने रास मोड़ी और 'क्वान-इन' की स्तुति करते हुए उत्तर-पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया।

मार्ग की भीषणता

उसने चारों ओर देखा तो विस्तृत मैदान पड़ा था। न कहीं मनुष्य, न पशु दिखाई पड़ता था। रात में भूत लोग आग जलाते थे जिनकी संख्या तारों की तरह अगणित थी। दिन में प्रचण्ड वायु बालू की वर्षा करती थी। पर इस सब के होते हुए भी उसका हृदय निर्भीक था। प्यास से उसके होंठ सूख गये। वह चलने में अशक्त हो गया। चार रात और पाँच दिन तक उसे एक बूंद पानी कंठ में उतारने को न मिला। उसके पेट में ज्वाला उठ रही थी। वह मरने-मरने हो गया। चलने में अशक्त होकर वह बालू पर लेट गया और 'क्वान-इन' की स्तुति करने लगा यद्यपि उसमें बोलने की शक्ति न थी। बोधिसत्व की स्तुति करते समय उसने कहा, "सुयेन-च्वाँग यात्रा करके धन-दौलत की अभिलाषा नहीं करता। न वह सख्याति चाहता है। वह केवल धर्म के लिए, सच्चे उपदेश की जिज्ञासा के लिए यह यात्रा कर रहा है। बोधिसत्त्व दीन दुखियों की रक्षा करने वाले हैं। क्या वे मेरे दुखों का अन्त न करेंगे !"

स्वप्न

इस प्रकार वह पाँचवीं रात के दूसरे पहर तक निरंतर प्रार्थना करता रहा कि एकाएक शीतल वायु ने उसके शरीर को स्पर्श किया। उसे ऐसा जान पड़ा मानो ठण्डे जल से उसने स्नान किया हो। उसकी आँखों में ज्योति आ गई और उसका घोड़ा ताज़ा हो गया। शरीर को आराम मिलने से उसे नींद आ गई। आँख

लगने पर उसने स्वप्न देखा कि एक विशालकाय देवता, कई 'चाँग'[1] ऊँचा, हाथ में फरसा लिए हुए उससे इस प्रकार कह रहा है "तुम क्यों अभी तक पड़े सो रहे हो; तुम्हें तो अपनी शक्ति भर आगे बढ़ना चाहिए ?"

आचार्य उठ कर चल पड़ा। १० ली जाने पर उसका घोड़ा चौंक कर दूसरे मार्ग पर चलने लगा और बहुत चेष्टा करने पर भी वह न लौटा। इस मार्ग पर कुछ ली जाकर उसने एकाएक कई एकड़ हरियाली भूमि देखी। घोड़े से उतर कर उसने उसे चरने को छोड़ दिया। दस पग चलने पर उसे एक पानी का गड्ढा मिला। इसमें साफ पानी भरा था। घोड़े से उतर कर उसने भर पेट जल पीया। उसके शरीर में फुरती आ गई। घोड़े और सवार दोनों को आराम मिला। यह मानने की बात है कि यह हरियाली भूमि और जलाशय प्राकृतिक न थे वरन् ये बोधिसत्व की कृपा के फल थे। आचार्य के विमल चरित्र और आध्यात्मिक शक्ति के ये प्रमाण थे।[2]

आई-गू प्रस्थान

उस हरी भूमि और जलाशय के पास एक दिन ठहर कर दूसरे दिन जलपात्र में पानी भरकर और कुछ घास काट कर वह आगे बढ़ा। दो दिन की यात्रा करने पर वह मरुभूमि के पार हुआ और 'आई-गू' पहुँचा। रास्ते में जो अगणित कठिनाइयाँ और जोखिम उसे उठानी पड़ीं, उन सब का वर्णन असंभव है। 'आई-गू' में आचार्य एक विहार में ठहरा। वहाँ तीन चीनी भिक्षु थे। उनमें एक बूढ़ा था। उसके कमरबंद न थी और न पाँव में जूते थे। उसने आकर आचार्य को अलिंगन किया और रोने लगा; और बड़ी

---

[1] एक चाँग १४१ इंच का होता है।—बील

[2] जूलियन ने इस अंश का अनुवाद नहीं किया था। स्पष्ट है कि ये प्रक्षिप्त हैं।—बील।

कठिनता से वह बोला, "मुझे तो आशा न थी कि इस जीवन में फिर अपने देश का आदमी देख सकूँगा।" आचार्य के आँखों में भी आँसू भर आए।

विदेशी भिक्षु और विदेश के राजे सुयेन-च्वांग का दर्शन करने आये। वहाँ के राजा ने उसे अपने यहाँ बुला भेजा और उसका बड़ा आदर-सत्कार किया।

काउ-चाँग जाना

दैवयोग से इसी समय 'काउ-चाँग' के राजा 'खि-ओ-वेन-ताई' ने 'आई-गू' कुछ दूत भेजे थे। लौटने के पूर्व उनसे आचार्य से साक्षात् हुआ। जब वे अपने देश लौटे तो उन्होंने आचार्य के आगमन की सूचना अपने राजा को दी। समाचार पाकर वहाँ के नृपति ने तुरन्त 'आई-गू' के राजा के यहाँ अपने दूत भेजे कि वे जाकर राजा से कहें कि वह आचार्य को 'काउ-चाँग' भेज दे। राजा ने सैकड़ों उत्तम घोड़े अपने कर्मचारियों के साथ भेजे कि वे जाकर आचार्य को स्वयं ले आवें। दस दिन के बाद राजा के दूत वहाँ पहुँचे और राजा की इच्छा निवेदन की और आचार्य से प्रार्थना की कि वह निमंत्रण स्वीकार करे। सुयेन-च्वांग ने सोचा था कि 'खान' के 'फिओ-तू' (स्तूप) से होकर सीधे मार्ग से प्रस्थान करेगा, परन्तु अब 'काउ-चाँग' के राजा का निमंत्रण अस्वीकार करना तो दूर रहा; उसका इतना आग्रह था कि वह अस्वीकार न कर सका। दक्षिण-मरुभूमि को पार कर छः दिन यात्रा करके वे लोग 'काउ-चाँग' की सीमा पर 'पीह-ली' नगर में पहुँचे। संध्या हो गई थी अतः आचार्य ने ठहर जाना उचित समझा पर अमात्य और दूतों ने कहा "राजधानी पास ही है; आप रुकिए नहीं, मार्ग में घोड़ों की डाक का प्रबन्ध है।" आचार्य ने अपना पुराना लाल घोड़ा छोड़ा जिस पर वह अभी तक यात्रा कर रहा था कि वह पीछे से वहाँ भेज दिया जाय। वे आधी रात में राजधानी पहुँचे। नगर-रक्षकों ने राजा को समाचार दिया और उसने नगर का फाटक खोलने की आज्ञा दी।

आचार्य के नगर में पहुँचने पर राजा अपने राजकर्मचारियों सहित मशाल लेकर उसका स्वागत करने आया। राजा के भवन के भीतरी कमरे में पहुँच कर उसे एक दो-मंज़िले मकान में रत्नजटित सिंहासन पर आसन मिला। राजा ने प्रणाम कर बड़े विनय से कहा, "आप का आगमन सुनकर मुझे हर्ष के मारे खाना-पीना नहीं भाता था। मार्ग की दूरी सोच कर मैंने समझ रखा था कि आप रात को अवश्य यहाँ पहुँचेंगे इसी लिए मेरी स्त्री और बच्चे सभी जाग रहे हैं और धर्मग्रन्थ का पाठ करते हुए आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

स्वागत

थोड़ी देर बाद रानी अपनी दासियों के साथ दर्शन करने आई।

प्रातःकाल होने को हुआ तो आचार्य ने कहा कि 'थकावट के कारण मैं विश्राम करने की इच्छा करता हूँ।' राजा तब अपने प्रासाद में चला गया और वह आचार्य की सेवा में बहुत से खोजे नियुक्त कर गया। प्रातःकाल होने पर आचार्य के उठने के पहले ही राजा अपनी रानी और दासियों के साथ भवन के द्वार पर दर्शन करने पहुँचा। प्रणाम करके राजा ने कहा, "आप का दास इसी आश्चर्य में है कि अकेले आप कैसे मार्ग की कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं को झेल कर यहाँ पहुँच सके।" यह कहते हुए उसकी आँखों में आँसू आ गये और वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया। इसके पश्चात् उसने धर्म के नियमानुसार भोजन लाने की आज्ञा दी। प्रासाद के निकट एक उपदेश-गृह था। राजा आचार्य को स्वयं वहाँ ले गया और उसे वहीं ठहराया। उसकी सेवा और रक्षा के निमित्त नपुंसक (खोजे) नियुक्त किये गये।

इसी विहार में 'तुन' नामक एक विद्वान रहता था जो पहले 'चाँगान' में अध्ययन करता था और धर्मग्रंथों का अच्छा ज्ञाता था। राजा उसको मानता था। उसने 'तुन' को आचार्य के पास भेजा। वह मिलकर चला आया। इसके

ठहरने का अनुरोध

धर्मग्रंथों की त्रुटियों पर दुखी होकर मैंने स्वयं मूल ग्रंथों का अध्ययन करने का विचार किया है। मेरा उद्देश है कि वैपुल्य धर्म की अमृत रूपी वृष्टि केवल कपिला (कपिलवस्तु) में ही न हो, वरन् दैवी-शब्दों (उपदेश) का प्रचार **पूरब** (चीन) के देश में भी हो। पर्वतों को पार करने तथा किसी विद्वान गुरु की खोज करने के हेतु मेरा विचार दिनों-दिन दृढ़ होता जा रहा है। आप क्यों मुझे मार्ग में रोकते हैं? महाराज से मेरी विनती है कि आप ऐसा न सोचें और मुझे अपने प्रेम-पाश में न बांधें।"

राजा ने कहा, "मुझे आप से बड़ी श्रद्धा हो गयी है। आप मेरी विनती स्वीकार कर यहीं ठहर जाँय। **'सुंग-लिंग'** पर्वत गिर जाय पर मेरा विचार नहीं बदल सकता। आप मुझ पर विश्वास करें मेरी भक्ति पर संदेह न करें।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "आप इसका प्रमाण देने का क्यों कष्ट कर रहे हैं? सुयेन-च्वाँग धर्म की खोज में पश्चिम जा रहा है जब तक उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हो जायगा वह रुक नहीं सकता। इसलिए आप कृपा कर मुझे क्षमा करें। आप अपने को मेरे स्थान में रखकर सोचें। आप ने पहले बड़ा पुण्य किया है अतः आप राजा हुए हैं। आप केवल अपनी प्रजा के ही रक्षक नहीं हैं वरन् आप भगवान के धर्म के भी रक्षक हैं। अतः आप को उचित है कि धर्म का पालन और उसकी रक्षा करें। आश्चर्य की बात है कि आप उसके हेतु किए हुए कार्य का विरोध कर रहे हैं।"

राजा ने कहा, "धर्म के मार्ग में मैं कभी बाधा नहीं डालता। परन्तु मेरे राज्य में कोई विद्वान और उपदेशक नहीं है इसी हेतु मैं आप को रोक रहा हूँ कि आप यहाँ रह कर लोगों को उपदेश दें और उन्हें सद् मार्ग पर लगावें।"

परन्तु आचार्य ने बार-बार जाने की आज्ञा माँगी और वह रहने पर सहमत न हुआ। तब राजा क्रुद्ध होकर अपनी आस्तीन चढ़ा कर ज़ोर से चिल्ला कर कहने लगा, "मुझे और भी अन्य उपाय मालूम हैं। यदि आप नहीं मानते तो आप को मैं बलपूर्वक रोक कर देश लौटा सकता हूँ। आप सोच लीजिये। भलाई इसी में है कि आप मान जाँय।"

राजा का क्रोध

आचार्य ने उत्तर दिया, "सुयेन-च्वाँग धर्म के निमित्त यहाँ आया है। मुझे एक ही व्यक्ति ऐसा मिला है जो इसका विरोध करता है। परन्तु आपका वश मेरे शरीर पर है मेरे मन पर नहीं।"

उसे बड़ा दुख हुआ और वह कुछ आगे न बोल सका। राजा न पिघला। पर वह बराबर उसे भोजन आदि राज्य भण्डार से भेजता रहा।

आचार्य ने देखा कि वह इच्छा के विरुद्ध रोका जा रहा है तो उसने शपथ लेकर कहा कि 'वह राजा को मनाने के लिये अनशन व्रत करेगा।' यह कह कर वह तीन दिन तक दुखी रहा, न भोजन किया, न बोला। चौथे दिन जब राजा ने देखा कि आचार्य अशक्त होता जा रहा है तो उसे लज्जा और पश्चाताप हुआ और उसने प्रणाम करके कहा, "आचार्य को आज्ञा मिलती है कि वह यात्रा आरंभ करे। आप कृपा कर जलपान करें।"

अनशन व्रत

आचार्य को इस पर विश्वाश न हुआ। उसने राजा से सूर्य की शपथ लेकर कहने को कहा। राजा ने उत्तर दिया, "यदि आप को विश्वास न हो तो चलिये भगवान बुद्ध के सामने चलकर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।" तब वे दोनों मन्दिर में गये और उन्हों ने भगवान की पूजा की। उनके साथ राजमाता भी थी और रानी 'चाँग' भी थी। आचार्य को भाई मान कर राजा ने उसे यात्रा की आज्ञा दी। "परन्तु", उसने कहा, "जब आप लौटें तो आप मेरे राज्य में तीन वर्ष रहकर मेरी पूजा

स्वीकार करें और यदि आप आगे चल कर बुद्धत्व को प्राप्त हों तो कृपा कर मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं बिंबसार या प्रसन्नजित की भाँति आप की रक्षा करूँ।"

आज्ञा मिलना

तब राजा ने आचार्य से कहा, "आप एक मास यहाँ रह कर 'जिन-वाँग-पन-जो' नामक सूत्र का पाठ करें। इसी बीच मैं आप की यात्रा के लिए वस्त्रादि बनवा देता हूँ। आचार ने स्वीकार कर लिया। रानी इस पर बड़ी प्रसन्न हुई और उसने आचार्य से आगे भी घनिष्ट संबंध स्थापित रखने की इच्छा प्रकट की।

आचार्य अब जलपान करने पर राज़ी हुआ। इसी से उस की दृढ़-प्रतिज्ञा और मनोबल का प्रमाण मिलता है।

दूसरे दिन राजा ने धर्म परिषद् के लिये सभा मण्डप बनवाया। इस मण्डप में तीन सौ व्यक्ति बैठ सकते थे। रानी राजा के दाहिने बैठती थी। विद्वान और प्रधान लोग अपने अपने स्थान पर बैठ कर उपदेश सुनते थे।

आचार्य का सत्कार

उपदेश के अवसर पर राजा स्वयं आचार्य को सभा में लिवा जाता और धूपदान लेकर आगे आगे चलता। जब आचार्य सिंहासन पर चढ़ता तो राजा स्वयं पादपीढ़ अपने हाथ से रख देता और बैठने के लिये कहता। यही नित्य का नियम था।

उपदेश की समाप्ति पर राजा ने आचार्य से निवेदन किया कि उसने आचार्य की सेवा के लिये चार श्रमणेरों की व्यवस्था की है। उसके लिये ३० जोड़े कषाय बनवाये हैं। राजा ने पश्चिम देश की प्रकृति के अनुसार जाड़े की आवश्यक वस्तुएँ; जैसे टोप, दस्ताने, जूते आदि भी बनवा दिये। आचार्य को उसने ३०० तोले (औंस) सोना, तीन लाख चाँदी के सिक्के, पाँच सौ ताफ़ता और साटन के थान दिये जो २० वर्ष की यात्रा के लिये पर्य्याप्त थे। उसने तीस घोड़े, चौबीस दास

साथ कर दिये। इसके अतिरिक्त उसने 'खान-येह-हू'[1] तक पहुँचाने के लिये साथ में 'हुन-सिन' नामक एक राजकर्मचारी कर दिया। और उसने आज्ञा पत्र 'किऊ-ची' तथा अन्य २४ देशों के अधिकारियों के नाम लिख दिये। प्रत्येक खरीते के साथ एक साटन का थान था और वे राज-मुद्रा से अंकित थे। और उसने गाड़ियों पर पाँच सौ थान साटन और ताफ़ता और अच्छे-अच्छे फल 'खान-येह-हू' के लिये साथ कर दिये। इस उपहार के साथ एक पत्र भी था जिसमें लिखा था, "आचार्य, आप के दास का मित्र है। यह धर्म की खोज में ब्राह्मणों के देश (भारत) जाना चाहता है। 'खान' से मेरी प्रार्थना है कि वह आचार्य पर कृपा करें जैसे वह मेरे ऊपर कृपा रखता है।" उसने यह भी लिखा कि अन्य देशों के राजाओं से भी कहा जाय कि वे रास्ते में आचार्य के लिये अपने अपने देश में घोड़ों की डाक का प्रबन्ध कर दें।

कृतज्ञता प्रकाश

आचार्य ने राजा का यह प्रबंध देख उसकी उदारता पर बड़ा प्रसन्न हुआ और कृतज्ञता से वशीभूत होकर उसने राजा से कहा, "सुयेन-च्वाँग ने सुना था कि समुद्र पार करने के लिये नाव और डाँड की आवश्यकता होती है अतः जो लोग अज्ञान समुद्र में पड़े हुए मनुष्यों की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें तथागत के बचनों से काम लेना पड़ेगा। इसी हेतु तथागत ने पिता के तुल्य अपने संतानों पर प्रेम करके इस पापपूर्ण पृथ्वी पर जन्म लेकर अपने में तीनों विद्याओं का आप ज्ञान प्राप्तकर सूर्य की भाँति अंधकार का विनाश किया था। उनके प्रेम के बादल मृत्यलोक और अमरलोक दोनों पर छाये थे। और उनके धर्म की वर्षा ३००० लोकों पर हुई थी। संसार में अहिंसा (उपकार) और शान्ति

---

[1] जूलियन 'चे-हु' पढ़ते हैं।

का प्रचार कर उन्होंने निर्वाण लिया था[1]। उनका धर्म ६०० वर्षों से चीन देश में फैला है। उनके प्रसिद्ध धर्म का प्रचार 'हू' और 'लो' जनपद भर में स्पष्ट है और वह 'सिन' और 'लियांग' में तेजमान नक्षत्र की भाँति प्रकाशमान है।

"उनके दिव्य धर्म को मान कर संसार मोक्ष की ओर अग्रसर हुआ है। केवल विदेशी लोग उसके विरुद्ध हैं। भगवान को हुए बहुत दिन हो गये। इस लिए उनके उपदेशों का नाना प्रकार अर्थ किया जाता है। परन्तु जैसे एक ही जाति के अनेक वृक्षों के फल का स्वाद समान होता है उसी प्रकार आजकल के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सिद्धान्तों में भी समानता है। उत्तर और दक्षिण के लोग अवश्य सैकड़ों वर्षों से एक दूसरे का विरोध करते आये हैं इसी से हमारे मन में भी शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। इन्हें दूर करने योग्य कोई विद्वान नहीं हुआ।

"सुयेन-च्वाँग अपने पूर्व संस्कारों के कारण लड़कपन ही में भिक्षु हो गया और वह २० वर्ष तक गुरुओं से अध्ययन करता रहा। बड़े-बड़े महात्मा और विद्वानों से उसने स्वाधीनता से शास्त्रार्थ किया और उनके प्रश्नों का उत्तर दिया। उसने महायान और हीनयान दोनों के सिद्धान्तों का भली भाँति मनन किया है। वह रात-दिन धर्मग्रन्थ उलटता रहता है। उसके अध्ययन में अनेक शंकाएँ उठती थीं। अंत में उलझनों से थककर उसने जेतवन विहार की राह लेनी उचित समझी कि गृद्धकूट जाकर वहाँ का दर्शन करे और अपनी शंकाओं का निवारण करे। परन्तु उसे ज्ञात था कि एक छोटी सी लकड़ी से आकाश नहीं नापा जा सकता और न काक-पक्ष (पर) से समुद्र की थाह लगाई जा सकती है।

---

[1] यहाँ मूल भ्रमात्मक है। अनु०

"परन्तु वह अपना संकल्प न त्याग सका, अतः वह तैयारी करके चल पड़ा और कष्ट झेलता हुआ 'आई-गू' तक आ पहुँचा है। मेरी यही प्रार्थना है कि आप दोनों लोक के प्रभाव से तथा दोनों धर्मों (यानों) के प्रभाव से अपनी प्रजा पर शासन करते रहें। आप की कीर्ति पूर्व चीन तक और पश्चिम सैकड़ों बरबर जनपदों तक फैली है। 'लि-ओ-लान' और 'यू-ती-के' प्रदेश और 'किउ-स्सी' और 'लोंग-वाँग' जनपदवाले आपका गुणगान करते हैं और आपके उपकारों के लिये कृतज्ञ हैं। विद्वानों के प्रति आपकी श्रद्धा और आपका विद्याप्रेम उनके प्रति आप के प्रेम का परिचय देता है।

"मेरा आगम सुनकर आपने अनुग्रहपूर्वक मुझे निमंत्रित किया और मुझे अपने यहाँ अतिथि बनाया। मेरे यहाँ आने पर आपने मुझे धर्मोपदेश देने को कहा। आपने मुझे 'भाई' का पद देने की कृपा की और आप ने मुझे २० से अधिक पश्चिमीय नृपतियों के नाम सिफारिश के पत्र दिये और उन्हें लिखा कि मेरे ऊपर दया और कृपा रक्खें और मेरे लिए मार्ग में पथप्रदर्शक और आवश्यक सामग्री का प्रबंध कर दें। एक पश्चिम की यात्रा करनेवाले दीन भिक्षु पर दया करके और यह सोचकर कि मार्ग में उसे सर्दी-गर्मी से कष्ट होगा आपने उसके साथ चार श्रमणेर कर दिये और उसके लिये आवश्यक वस्त्र, रूईदार टोपियाँ, जूते, आदि वस्तुओं का प्रबन्ध कर दिया।

"आपने उसे रेशमी वस्त्र, ताफ़ता, बहुत सा रुपया-पैसा उसके बीस वर्ष के व्यय के लिये दे दिया है जो यात्रा और वहाँ से लौट आने तक के लिये यथेष्ट है। यह सब देखकर मैं बड़ा आभारी हूँ और मैं किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ, यह समझ में नहीं आता। पीत नदी का पानी आपके उपहारों की समता नहीं कर सकता, 'सुंग-लिंग' पर्वत आपके उपकारों के सामने तुच्छ है।

"अब मुझे हिमाच्छादित मार्ग पार करने में क्या चिंता है। अब मुझे चिंता केवल यही है कि कपिथ के पुण्य स्थान जहाँ स्वर्ग की सीढ़ियाँ हैं, तथा बोधि वृक्ष के दर्शन करने में कहीं विलंब न हो। आपने मेरी प्रार्थना स्वीकारकर मुझे बहुत अनुगृहीत किया है। यह सब आपकी कृपा का प्रमाण है।

"वद्वानों से मिलकर तथा उनके मुख से धर्म की व्याख्या सुनकर मैं अपने देश लौटूँगा और वहाँ उनका अनुवाद करूँगा। इस प्रकार लुप्त-धर्म का यथार्थ ज्ञान फैलेगा। मैं उलझनों को सुलझाकर भ्रम-पूर्ण उपदेशों के प्रभाव को नष्ट करूँगा। तथागत के धर्म की त्रुटियों को हटाकर मैं उनके दिव्य उपदेशों की व्याख्याकर उनका अर्थ निश्चय करूँगा।

"संभव है इन सब सत्कार्यों से मैं आपके महान ऋण का भार कुछ हलका कर सकूँ। परन्तु यात्रा दूर की है अतः मैं विलंब नहीं करना चाहता। महाराज, कल मुझे कृपा कर विदा दें। यद्यपि मुझे भी इस से दुख हो रहा है।

"आप के इस महान उपकार के बदले में मैं केवल अपनी हार्दिक कृतज्ञता ही प्रकट करने योग्य हूँ।"

राजा ने उत्तर में कहा, "आचार्य आप ने मेरे 'भाई' का पद स्वीकार किया है अतः आप हमारे धन-दौलत के भागी हैं। आप को मुझे धन्यवाद देने की क्या आवश्यकता है।"

प्रस्थान

प्रस्थान के दिन राजा अपने मंत्रियों और प्रजा को साथ लेकर आचार्य को नगर के बाहर मार्ग तक पहुँचाने आया। राजा और प्रजा ने आँखों में आँसू भरकर आचार्य को आलिंगन किया। उसकी विदाई के समय चारों ओर लोग रोने और सिसकने लगे।

इसके बाद राजा ने रानी और अन्य लोगों को लौटने की आज्ञा दी और स्वयं मंत्रियों और भिक्षुओं को लेकर आचार्य को बीसों ली तक पहुँचाने गया।

अन्य देश के राजाओं ने भी ऐसा ही आचार्य का सत्कार किया। प्रस्थान करके आचार्य पश्चिम की ओर चला। 'वू-प्वान' और 'तो-शिन' नगरों को पारकर वह 'ओ-की-नी' (यनकी)[1] जन पदमें प्रविष्ट हुआ।

[1] कदाचित् 'यॉंधी'-है जैसे 'यॉंधी-हिस्सार'।

अध्याय २

ओ-कि-नी से कि-जो-किओ-शी (कान्यकुब्ज) तक।

यहाँ से पश्चिम चलकर आचार्य 'ओ-कि-नी' जनपद पहुँचा। यहाँ 'आ-फू' देव का सोता है। यह मार्ग के दक्षिण एक बालू के टीले पर है। यह टीला कई 'चाँग' ऊँचा है और पानी पहाड़ की ऊँचाई के बीच से आता है।

ओ-कि-नी

लोग कहते हैं कि कुछ समय हुए व्यापारियों का जत्था यहाँ से होकर जा रहा था। उनका जल रास्ते में ही चुक गया। उन्हें समझ न पड़ता था कि अब क्या करें। उनके साथ एक भिक्षु भी था जिसके पास खाने-पीने को कुछ न था और जो इन लोगों की भिक्षा के भरोसे था। उनके साथियों ने इस पर कहा, "यह बुद्ध का उपासक है इसीलिये हम लोग इसे भिक्षा देते हैं। यह सहस्त्रों ली से हमारे साथ खाता-पीता चला आया है। इसके पास कुछ भी अपना खाने को न था। अब हमारे ऊपर संकट पड़ा है और यह निश्चिंत है। हम लोगों को इस से पूछना चाहिये।"

भिक्षु ने उनके पूछने पर कहा, "महोदय आप लोग यदि पानी चाहते हैं तो भगवान की उपासना कीजिये और तीन आश्रय और पंचशीलों को ग्रहण कीजिए। तब मैं आप लोगों के निमित्त पर्वत पर चढ़कर जलस्रोत उत्पन्न करूँगा।"

आफू झरना

जत्थे के लोग बड़े दुखी थे। उन्होंने भिक्षु की बात स्वीकार कर उपदेश ग्रहण किया। तब भिक्षु ने उन सब से कहा, "मैं पहाड़ी पर चढ़ जाऊँ तो आप लोग ज़ोर से कहियेगा, '"आ-फू-स्सी' हम लोगों के

निमित्त पानी गिराओ। हम लोगों के लिए पानी गिराओ।" यह कहकर वह चला गया। थोड़ीं देर बाद जब लोगों ने प्रार्थना की और ज़ोर से भिक्षु के आदेशानुसार पुकारा तो उनकी आवश्यकता भर के लिये जल टीले से नीचे गिरने लगा।

सब लोग हर्ष से उन्मत्त हो गये और भिक्षु को धन्यवाद देने लगे। परन्तु जब भिक्षु लौटकर नहीं आया तो वे सब पहाड़ी पर उसकी खोज में चढ़े। वहाँ जाकर देखा तो वह मरा पड़ा था। रो-पीटकर उन लोगों ने उसके शव को पश्चिमीय (भारतीय) प्रथा के अनुसार जला दिया। जहाँ उसका शव मिला था वहाँ उन लोगों ने पत्थर एकत्रकर एक स्तूप बना दिया। यह अब भी यहाँ है। पानी तब से बराबर बहता है और यात्रियों की आवश्यकतानुसार यह कम, अधिक होता रहता है। यदि कोई नहीं होता तो पानी की धार पतली हो जाती है।

रजत गिरि

आचार्य ने अपने साथियों के साथ यहीं रात बिताई। प्रातःकाल होने पर उसने यात्रा आरंभ की और 'रजत-गिरि' पर्वत पार किया। यह पर्वत बहुत ऊँचा और दूर तक फैला हुआ है। यहीं से चाँदी खोदकर पश्चिम देश (भारत) में मुद्रा बनाने के लिए जाता है।

डाकुओं से मुठभेड़

पर्वत के पश्चिम डाकुओं के एक जत्थे से भेंट हुई। उसने जो कुछ उन लोगों से माँगा उन्हें दिया गया और वे चलते बने। थोड़ी देर बाद वे राजधानी के बहिर्भाग में पहुँचे और उन्होंने एक नदी के निकट रात बिताई। इसी अवसर पर कुछ व्यापारी, जो संख्या में कई दस रहे होंगे, उतावली में अपना माल बेचने की लालच से आधी रात ही में चुपके से चल पड़े थे। दस ली भी न गये थे कि उन्हें डाकू मिले। उन सब ने उनमें से एक-एक को मार डाला। जब आचार्य अपने साथियों सहित वहाँ पहुँचा तो उसने व्यापारियों का मृत शरीर वहाँ मार्ग में पड़ा देखा, पर उनका सारा धन

वे डाकू लूटकर भाग गये थे। आचार्य यह दशा देखकर बहुत दुखी हुआ। थोड़ी देर में राजधानी दिखाई पड़ने लगी।

राजा द्वारा स्वागत

'ओ-कि-नी' का राजा (मंत्रियों सहित) आचार्य के स्वागत के लिये आया और उसे लिवा ले गया और उसे अपने प्रासाद में ठहराया। इस देश पर डाकुओं ने पहले आक्रमण किया था। ये डाकू 'काउ-चाँग' के रहनेवाले थे। इसी लिये दोनों जनपदों में मनोमालिन्य था और इसीलिए राजा आचार्य के लिये मार्ग प्रदर्शकों का प्रबन्ध नहीं करना चाहता था।[1]

किउ-ची में

आचार्य यहाँ एक रात ठहरकर आगे बढ़ा और उसने एक बड़ी नदी पार की। पश्चिम ओर उसने एक समतल घाटी को पार की और सैकड़ों ली चलकर वह 'किउ-ची' जनपद की सीमा पर पहुँचा। उसका राजधानी में आना सुनकर वहाँ का राजा अपने मंत्रिमण्डल तथा एक 'मो-च-किउ-तो' (मोक्षगुप्त) नामक प्रसिद्ध विद्वान भिक्षु को साथ लेकर उसकी अगुआनी करने आया। अन्य सहस्त्रों भिक्षु पूर्वी द्वार पर नगर के बाहर रह गये थे। वहाँ उन लोगों ने एक विशाल यान (रथ) तैयार किया था और गाते-बजाते जलूस के साथ भगवान बुद्ध की प्रतिमा लाकर वहाँ रखी थी।

रथ-यात्रा के साथ

आचार्य के पहुँचने पर भिक्षुगण अपने आसन से उठ-उठकर उसकी अभ्यर्थना के निमित्त आये और प्रेम से बातें कर फिर अपने आसन पर लौट गये। इसके बाद उन लोगों ने एक भिक्षु के द्वारा आचार्य के लिए ताज़े फूलों का गुच्छा भेजा। आचार्य ने लेकर बुद्ध की प्रतिमा के निकट जाकर उन फूलों

---

[1] जूलियन कहते हैं कि स्मरण रखना चाहिये कि सुयेन-च्वाँग के साथ काउ-चाँग के आदमी पहुँचाने आये थे।

को भगवान को अर्पण किया। इसके उपरान्त मोक्षगुप्त उसके निकट बैठा। उनके बैठ जाने पर भिक्षुगण पंक्ति में खड़े होकर, हाथों में फूल लिये आचार्य को मार्ग में द्राक्षारस अर्पण किया।

आचार्य ने फूल और द्राक्षारस स्वीकार किया। इसी प्रकार उसे दूसरे संघारामों में भी यही स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार जलूस को घूमते-फिरते दिन डूबने लगा तब भिक्षु तथा दर्शकगण अपने-अपने स्थान को चले गये।

'किउ-ची' में 'काउ-चाँग' के अनेक भिक्षु थे। ये अलग एक मंदिर (विहार) में रहते थे। उन लोगों ने यह सुनकर कि आचार्य 'काउ-चाँग' से आ रहा है उसे रात को अपने विहार में ठहरने को निमंत्रित किया। जब आचार्य वहाँ ठहर गया तो राजा और अन्य भिक्षुगण लौट आये। दूसरे दिन राजा ने आचार्य को अपने यहाँ पूजा तथा तीन प्रकार के भोजनों को स्वीकार करने के लिये बुलाया। आचार्य इसे स्वीकार करने पर राज़ी न हुआ। इस पर राजा बड़ी चिन्ता में पड़ा। आचार्य ने कहा, "यह तो परमपरागत धर्म का विधान है परन्तु महायान जिसका मैंने अध्ययन किया है इसे ग्राह्य नहीं बतलाता। मैं अन्य भोज्य पदार्थों को खा लूँगा।"

खा-पीकर वह नगर के उत्तर-पश्चिम दिशा में 'ओ-शी-ली-नी' नामक विहार को गया, जहाँ मोक्षगुप्त रहता था। मोक्षगुप्त

मोक्षगुप्त

अपनी योग्यता तथा बुद्धिमता के कारण सब संप्रदायों का पूज्य था। उसने २० वर्ष तक भारत की यात्रा की थी और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। यों तो उसने सभी सूत्रों का अध्ययन किया था पर विशेषकर वह 'शिंग-मिंग' (शब्द-विद्या-सूत्र) में वह बढ़ा-चढ़ा था। राजा तथा देश के निवासी उसकी विद्वत्ता की धाक मानते थे और उसे 'तुह-या' (अद्वितीय) कहते थे। जब मोक्षगुप्त को आचार्य के आगमन का समाचार मिला तो उसने अतिथि के योग्य आचार्य का

स्वागत किया। उसे यह पता न था कि आचार्य का धर्मग्रंथों का अध्ययन काफ़ी बढ़ा हुआ था।

उसने आचार्य से कहा, "इस देश में 'त्सु-लिन'[1], 'क्विट-शी'[2], 'पि-शा'[3] तथा अन्य सूत्रों का प्रचार है। आप यहाँ रहकर उनका अध्ययन कर सकते हैं। इसके लिये आप पश्चिम यात्रा का कष्ट न उठाइये। व्यर्थ कष्ट झेलने और जान जोखिम में डालने से लाभ?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "क्या आप के यहाँ योग शास्त्र की शिक्षा होती है या नहीं?" मोक्षगुप्त ने उत्तर दिया, "आप इन विधर्मी ग्रन्थों के विषय में क्यों चर्चा करते हैं? बुद्ध के सच्चे अनुयायी इस प्रकार के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते।" आचार्य के हृदय में मोक्षगुप्त की विद्वत्ता का बड़ा आदर था पर यह सुनकर उसकी सारी श्रद्धा जाती रही। उसने कहा, "विभाषा तथा कोशशास्त्र की शिक्षा हमारे देश में भी होती है पर मुझे दुख से कहना पड़ता है कि मुझे उनकी तर्कना लचर और उनकी भाषा निस्तेज जान पड़ती है। वे योग के विषय में बिल्कुल चुप हैं। इसी हेतु मैंने यहाँ की यात्रा की है कि 'महा-यान' के योगशास्त्र का अध्ययन करूँ। और योग है क्या?—भविष्य के बुद्ध मैत्रेय बोधिसत्त्व के उपदेश। इसे विधर्मियों (नास्तिकों) का ग्रन्थ कहते आप नरक से नहीं डरते?"

मोक्षगुप्त ने उत्तर दिया, "आप ने विभाषा और अन्य सूत्रों को समझा ही नहीं है। यह कैसे कहते हैं कि उनमें धर्म के मुख्य सिद्धान्त नहीं हैं।" आचार्य ने पूछा, "क्या आप उन्हें अच्छी तरह समझते हैं?" आचार्य ने तब कोश का आदि श्लोक पढ़ा और मोक्षगुप्त से इसके आगे पढ़ने को कहा। मोक्षगुप्त लड़खड़ाने लगा और अनेक भूलें करके

---

[1] संयुक्ताभिधर्म [2] कोश [3] विभाषा

वह चुप हो गया। उसका रंग उड़ गया और उसने घबराकर कहा, "मुझ से किसी अन्य स्थल के विषय में प्रश्न कर सकते हैं।"

इस पर आचार्य ने कुछ और पूछा पर वह उसे भी न कह सका। वरन् उलटा कहने लगा, "यह तो शास्त्र में है ही नहीं।" इस समय राजा के चचा जिनका नाम 'ची-यूह' था, जो भिक्षु हो गये थे, वहीं उपस्थित थे। ये सूत्रों और शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। इन्हों ने कहा, "नहीं, यह शास्त्र में है।" और उन्हों ने मूल खोल कर पठ दिया।

मोक्षगुप्त इस पर लज्जित हुआ और कहने लगा, "मैं बूढ़ा हो रहा हूँ। मेरी स्मरण शक्ति काम नहीं करती।" आचार्य ने उससे अन्य सूत्रों के विषय में भी प्रश्न किये पर वह उत्तर न दे सका।

'लिंग' पर्वत के दर्रों में बर्फ जम गई थी इस लिए मार्ग बंद था।

६० दिन रुकना

विवश होकर आचार्य को ६० दिन तक वहीं ठहर जाना पड़ा। यदि बाहर टहलते हुए कहीं मोक्षगुप्त उससे मिल जाता तो खड़े-ही-खड़े बातें करता मानों भागने-भागने हो रहा हो। मोक्षगुप्त लोगों से अकेले में कहता, "यह चीनी भिक्षु साधारण विद्वान नहीं है। यदि यह भारत पहुँचा तो छोटे-मोटे विद्वान तो इसके सामने भी न आवेंगे।"

मोक्षगुप्त, आचार्य का इतना आदर करता और आतंक मानता।

प्रस्थान की तिथि समीप आने पर राजा ने आचार्य को ऊँट, घोड़े और नौकर दिये और राजधानी के भिक्षुओं और नागरिकों को लेकर वह उसे कुछ दूर पहुँचाने आया।

यहाँ से पश्चिम दो दिन का मार्ग चलकर उसे २००० तुर्की

प्रस्थान

(तुह-क्युिह) डाकू मिले जो घोड़ों पर सवार थे। एक पथिक-समूह को लूटकर वे आपस में माल बाँट रहे थे। बाँटने में झगड़ा हो जाने से वे आपस में लड़ने लगे थे और इस प्रकार भगा दिये गये।

पो-लो का

६०० ली की यात्रा करके एक छोटी मरुभूमि पार कर 'पो-लो-का'[1] (प्राचीन किह-मेह) जदपद मिला। यहाँ एक रात वे लोग ठहरे। तब उन लोगों को उत्तर पश्चिम ३०० ली चलकर एक मरुभूमि पार कर 'लिंग' पर्वत-माला मिली। यह पर्वत ऊँचा और भयानक है। इसके शिखर गगनचुम्बी हैं। यहाँ बराबर बर्फ़ जमी रहती है और किसी ऋतु में भी नहीं गलती। झरने जम जाते हैं। उनकी चमक इतनी है कि उन्हें देर तक देखना कठिन है। आँखें चौंधिया जाती हैं। बर्फ़ की शिलाएँ गिरकर मार्ग बन्द कर देती हैं। कोई-कोई सैकड़ों फ़ुट ऊँची रहती हैं। एक तो उन पर चढ़ना कठिन, दूसरे उनको पार करना दुष्कर। इस पर वायु इतनी शीतल और बर्फ़ की वर्षा ऐसी होती है कि समूर से ढँके होने पर भी शीत से बचना कठिन होता है। खाने-पीने और ठहरने के लिए कहीं सूखी भूमि नहीं। केवल बर्फ़ पर सो सकते हैं और टाँगकर खाना पका सकते हैं।

सात दिन की यात्रा करके आचार्य अपने साथियों सहित पर्वत से बाहर हुआ। साथियों में से १२ या १४ शीत से मर गये। इससे अधिक बैल और घोड़े मरे। पर्वत पारकर वे लोग 'सिंग' झील पर पहुँचे। इस झील का घेरा १४०० या १५०० ली है। यह पूर्व-पश्चिम लंबी और उत्तर दक्षिण संकरी थी। देखते-देखते पानी वायु के वेग से कई 'चाँग' उछलने लगता था।

खान से भेंट

इस झील के किनारे-किनारे उत्तर-पश्चिम दिशा में ५०० ली चलकर आचार्य 'सु-येह'[2] नगर पहुँचा। वहाँ 'खान' से उसकी भेंट हुई। वह शिकार को जा रहा था। इन बरबर लोगों के घोड़े बहुत अच्छे थे। 'खान' हरा रेशमी वस्त्र

---

[1] बालुका [2] 'शी'

(साटन) पहने था। उसके बाल खुले थे। उसके चारों ओर दस फुट रेशमी वस्त्र लपटा था, जो उसके सिर के चारों ओर ऐंठकर बँधा था और उसका एक हिस्सा पीछे लटकता था[1]। उसके साथ २०० सरदार थे। सब कामदार कपड़े पहने थे। और उनके बाल गुँथे हुए थे। उसके दाहिने बाएँ समूर और पशमीना पहने साधारण सैनिक थे। उनके पास भाले, धनुष और झण्डे थे और वे घोड़े और ऊँटों पर सवार थे। उनकी संख्या ठीक नहीं आँकी जा सकती।

आचार्य से मिलने पर 'खान' ने प्रसन्न होकर कहा, "आप यहाँ अधिक नहीं तो दो एक दिन ठहरिए। मैं लौटकर आ जाऊँगा।" उसने तब अपने एक 'न-मो-चीं' या सरदार को आज्ञा दी कि आचार्य को एक बड़े तंबू में ठहरावे और उनके आराम का प्रबंध करे। तीन दिन आचार्य वहाँ ठहरा; उसके बाद 'खान' लौटा और उसने सुयेन-च्वाँग को अपने पास बुलाया और हाथ पकड़कर आदर से उसे बैठाया।

'खान' का शामियाना बहुत बड़ा था। उसमें सोनहले बेल-बूटे बने थे जिनकी चमक से आँखें चकमका जाती थीं। उसके सरदार चटाइयों पर दोनों बगल बैठे थे। उनके वस्त्र चमकीले सोनहले ज़री के काम के थे। 'खान' का रक्षक पीछे खड़ा रहता था। यद्यपि 'खान' एक व्रात्य (खाना बदोश) जाति का शासक था पर उसकी ठाट-बाट शानदार थी।

जब आचार्य उसके तंबू की ओर आया तो वह २० पग बढ़कर उसको लेने गया और बड़ी भक्ति से उसे भीतर ले गया। द्विभाषिये द्वारा उससे बात-चीत करते हुये दोनों भीतर गये और आसन पर बैठे।

---

[1]यहाँ पगड़ी से तात्पर्य है। अनु०

तुर्क लोग अग्नि के उपासक हैं। ये लोग लकड़ी की चौकी पर नहीं बैठते क्योंकि लकड़ी में आग रहती है। पूजा करते समय भी ये ऐसा ही करते हैं। और केवल गद्देदार चटाइयाँ (कालीन) विछाकर उस पर बैठते हैं। परन्तु आचार्य के लिये वे एक लोहे का बड़ा बर्तन ले आये और उसे गद्दी से ढँक कर उस पर बैठने की प्रार्थना की। इसके पश्चात 'काउ-चाँग' के के महाराज का पत्र तथा उपहार लिये हुए उनके कर्मचारी भीतर लाये गये। 'खान' पत्र पढ़कर और उपहारों को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने दूतों को बैठने की आज्ञा दी। और उन्हें सुरा पिलवाई। गाना होने लगा। 'खान' ने अपने मंत्रियों और दूतों सहित मद्यपान किया। आचार्य को द्राक्षारस दिया गया। इसके बाद खूब दौर-दौरा रहा; एक दूसरे को चुनौती देकर पीता था। इस बीच बाजे बजते रहे; यद्यपि संगीत बरबरीय था पर सुनने में अच्छा लगता था। उससे मन और हृदय को आनंद मिलता था।

तुर्क

थोड़ी देर में भोजन के पदार्थ आये जैसे दुंबे और बछड़े का माँस। ये सब अतिथियों के लिये थे। आचार्य के लिये निरामिष भोजन बना था जैसे चावल की रोटी, बालाई, मिस्री, मधुखण्ड,[१] किशमिश आदि।

भोजन हो जाने पर द्राक्षारस फिर पीया गया। इसके पश्चात लोगों ने आचार्य से धर्मोपदेश करने को कहा। आचार्य ने उन्हें शिक्षा देने के निमित्त दश-शील, अहिंसा, परमित और निर्वाण के साधनों पर व्याख्यान दिया। 'खान' ने हाथ उठाकर साष्टांग प्रणाम करते हुए आचार्य के उपदेशों को स्वीकार किया।

वहाँ कई दिन रहने पर 'खान' आचार्य को वहीं ठहर जाने का

---

[१]शायद तात्पर्य मीठी रोटी या मालपुए से है। अनु०

आग्रह करने लगा। उसने कहा, "महोदय ! आप भारत[1] व्यर्थ जाते हैं। वह बहुत गर्म देश है। वहाँ का दसवाँ महीन इतना गरम है जितना हमारा पाँचवाँ। आप का स्वास्थ्य देखकर मुझे जान पड़ता है आप वहाँ बीमार पड़ जायँगे। वहाँ के लोग घोर काले होते हैं। वे असभ्य हैं। वे तो देखने के भी योग्य नहीं हैं।

आचार्य ने उत्तर दिया, "कुछ भी हो पर मैं पवित्र स्थानों को देखने तथा धर्म की जिज्ञासा के लिए एक बार वहाँ जाना चाहता हूँ।"

खान से विदा

तब खान ने आज्ञा दी कि, 'पूछो मेरी सेना में कोई ऐसा व्यक्ति भी है जो चीनी भाषा जानता हो तथा अन्य देशों की भाषा भी साथ-साथ जानता हो।' ढूँढ़ने पर एक युवक मिला जो कई वर्ष तक 'चाँग-गाँन' में रह चुका था और चीनी भाषा अच्छी तरह समझता था। 'खान' ने उसे 'मो-तो-ता-कान्' की उपाधि देकर नियुक्त किया कि वह भिन्न-भिन्न देशों के लिए परिचय-पत्र लिखे और आचार्य के साथ 'कपिशा' तक जावे। 'खान' ने आचार्य को लाल साटन का परिधान तथा रेशम के पचास थान भेंट किये और अपने सरदारों सहित स्वयं आचार्य को दस ली तक पहुँचाने गया।

पिंग-यू

यहाँ से चलकर ४०० ली के लगभग यात्रा कर के वह 'पिंग-यू'[2] पहुँचा। इसका दूसरा नाम 'सहस्र-धारा' भी है। यह जनपद सैकड़ों ली आयतन में है। यहाँ बहुत सी झीलें और नदियाँ हैं। यहाँ विचित्र-विचित्र, बड़े-बड़े और हरे भरे वृक्ष हैं। यहाँ की सुखप्रद प्रकृति के कारण 'खान' उष्ण-ऋतु में यहाँ आकर निवास करता है।

---

[1] चीनी नाम इन-तु-किअ-कओ। भारत के इस नाम पर विचार करना चाहिए। नागार्जुन अपने पत्र में 'सिंधुक-राज' लिखता है। बील।

[2] मैन-बुलक (बिंघुल)

'पिंग-यू' से पश्चिम की दिशा में १५० ली चलकर 'ता-लो-सी' (टरस) नगर मिला। फिर दक्षिण-पश्चिम २०० ली चलकर 'पिह-शुई', और दक्षिण-पश्चिम २०० ली की यात्रा करने पर 'कोंग-यू' नगर मिला। यहाँ से दक्षिण ५० ली चलने पर लोग 'नू-चो-कीन' जनपद और यहाँ से पश्चिम २०० ली की यात्रा करने पर 'चे-शी' (पहाड़ी प्रदेश) जनपद पहुँचे।

ता-लो-सी

इस जनपद की सीमा पश्चिम की ओर 'येह-येह' (शी-शी) नदी तक फैली है। यहाँ से १००० ली चलकर 'सु-तू-ली-स्से-ना' राज्य मिला। इस राज्य के पूर्व सीमा पर 'येह-येह' नदी बहती है। यह नदी 'सुंग-लिंग' पर्वत के पठारों से निकलकर उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है। यहाँ से उत्तर-पश्चिम जाकर एक बड़ी मरु-भूमि को पार करना पड़ा, जहाँ न पानी था न घास। लोग मार्ग में पड़ी हड्डियों को देखते हुए पंथ ढूँढ़ते चले। ५०० ली चलने पर लोग 'सा-मो-कीन' (सुखी देश) जनपद पहुँचे। यहाँ का राजा तथा उसकी प्रजा बौद्ध धर्म में विश्वास नहीं करती। ये लोग अग्नि के उपासक हैं। यहाँ दो संघारामों के खण्डहर मिले। यहाँ कोई भिक्षु न था। यदि यहाँ विदेशी भिक्षु आकर ठहरना चाहता तो विधर्मी आग जलाकर उसके पीछे दौड़ते और उसे वहाँ ठहरने नहीं देते थे।

मरु-भूमि

आचार्य के पहुँचने पर वहाँ के राजा ने उसका पहले अनादर किया परन्तु एक रात रहने के पश्चात, आचार्य ने राजा को समझाने के लिए उससे मनुष्यों और देवताओं के भाग्य के कार्य्य-कारण पर उपदेश दिया। उसने बुद्ध के महान गुणों की प्रसंशा की और उसे समझाने के लिए पुण्य की व्याख्या की। राजा यह सुनकर प्रसन्न हुआ और उस समय से आचार्य के प्रति बड़ी भक्ति करने लगा। आचार्य के दो नये शिष्य विहार में उपासना के हेतु गये, इस पर विधर्मियों ने उल्का जलाकर उनका पीछा किया।

सामोकेन

दोनों श्रमणेरों ने जाकर राजा से यह घटना निवेदन की। राजा ने यह सुनकर उल्का जलानेवालों को पकड़ लाने की आज्ञा दी। उनके आने पर उसने लोगों को एकत्रकर अपराधियों के हाथ काटे जाने की आज्ञा दी। आचार्य उन्हें धर्म्म का जीवन बिताने का उपदेश देना चाहता था, अतः उसे यह बात अच्छी नहीं लगी कि उनका शरीर-छेद किया जाय। उसने उनकी रक्षा करनी चाही। राजा ने केवल उन्हें पिटवाकर नगर के बाहर निकलवा दिया।

इस घटना के पश्चात छोटे-बड़े सभी आचार्य का आदर करने लगे और सब ने साथ ही उससे दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। इस हेतु आचार्य ने सब की सभा की। उनमें से बहुतों को भिक्षु बनाया और एक संघ की स्थापना की। इस प्रकार सुयेन-च्वाँग ने उनके विधर्मी हृदय में परिवर्तन कर उनकी बुरी प्रथाओं का सुधार किया।

इसी प्रकार वह जहाँ पहुँचता ऐसा ही करता।

दुर्गम-मार्ग

यहाँ से ३०० ली पश्चिम चलकर वह **'क्यु-शवाँग-नी-किया'**[1] पहुँचा। यहाँ से पश्चिम २०० ली की यात्राकर **'हो-हान'**[2] (पूर्वी देश) राज्य, यहाँ से ४०० ली पश्चिम चलकर **'पू-हो'**[3] (मध्य देश) जनपद और यहाँ से १००[4] ली पश्चिम जाकर **'फा-ती[5]'** जनपद पहुँचा। फिर ५०० ली पश्चिम की यात्रा करके ये लोग **'हो-ली-सी-मी-किया'** (खोआरज्म) राज्य में पहुँचे। इस जनपद की पूर्वी सीमा पर **'पो-त्सू'** (ओक्सस)[6] नदी बहती है। यहाँ से २०० ली दक्षिण-पश्चिम चलकर लोग पर्वतों में घुसे। पर्वत मार्ग बड़ा गहरा और भयानक था। कहीं-

---

[1]कशनिया। [2]सुयेनच्वाँग यहाँ स्वयं नहीं गया वरन सुनकर लिखा है। [3]बोखारा। [4]सि-यू-की में ४०० ली लिखा है। [5]कदाचित इससे तात्पर्य यू-ती (वती) देश से है [6]वक्षु नदी।

कहीं तो मार्ग इतना सँकरा था कि आदमी कठिनाई से जा सकता था। इस पर विशेषता यह कि न कहीं पानी न घास। इस प्रकार लगभग ३०० ली पर्वतों से होकर ये लोग 'लौह द्वार' में धँसे। यहाँ मार्ग सँकरा, दोनों बगल ऊँचे पहाड़ सीधी दीवार की भाँति खड़े थे। यहाँ पहाड़ों में लोहा बहुत मिलता है जिसे लोग खोदकर निकालते हैं। दीवारों से दोनों बगल के पर्वतों को छेदकर मुड़नेवाला फाटक लगा हुआ है, जिसके ऊपर बहुत सी लोहे की ढाली घंटियाँ लटकती है[1]। इसी से इसका नाम 'लौह-द्वार' पड़ा है। यह तुर्कों के आक्रमण को रोकने के लिए है। 'लौह-द्वार' से होकर लोग 'तो-हो-लो[2]' जनपद पहुँचे। यहाँ से कई सौ ली यात्रा करके 'ओक्सस' नदी पार कर 'ह्यो' जनपद पहुँचे[3]। यहाँ 'खान येह-हू' के बड़े लड़के का निवासस्थान था। इसका नाम 'ता-तू-शेह'[4] था। इसी ने 'काऊ-चाँग' की बहन से विवाह किया था।

'काउ-चाँग' के राजा ने, यहाँ के लिए आचार्य को सिपारिशी पत्र

पतिहत्या

दिया था। आचार्य के पहुँचने पर कुमारी 'हो-किया-तुन'[5] का देहान्त हो चुका था और 'ता-तू-शेह' बीमार था। जब उसे सुयेन-च्वांग के आगमन का समाचार मिला और उसे ज्ञात हुआ कि वह उसके तथा राजकुमारी के लिए पत्र लाया है तो उसे अपनी दशा पर बड़ा दुख हुआ और उसने आचार्य को अपने पास बुलाकर कहा, "महोदय! आप के दर्शन से दास की आँखें तृप्त हुई। हमारी प्रार्थना है कि आप कुछ काल के लिए यहाँ ठहर जायँ और विश्राम करें। यदि मैं रोगमुक्त हो गया तो मैं आप को स्वयं भारत पहुँचा दूँगा।"

---

[1] संभवतः इससे तात्पर्य्य 'फुलियों' से है जो फाटकों पर बहुधा जड़ी जाती हैं। अनु० [2] इसका नाम गलती से तो-फो-लो लिखा था—बील [3] कुंदुज़ जनपद। [4] शेह उपाधि है। [5] कुमारी खो—जूलियन।

इस अवसर पर वहाँ भारत का एक ब्राह्मण पुरोहित (विद्वान) भी उपस्थित था जो मंत्र-जाप करके रोगी को अच्छा करना जानता था। बात यह थी कि राजा ने कुमारी 'हो-किय-तुन' की छोटी बहन से विवाह किया था। इसने अपनी मृत बहन के पुत्र के कहने पर आपने पति को विष दे दिया था। 'शेह' की मृत्यु के उपरान्त जब 'काउ-चाँग' की कुमारी को एक छोटा-सा बच्चा रह गया तो उसकी बहन के पुत्र ने राज्य छीनकर, स्वयं उसका शासक बन बैठा। इसका नाम 'तेले' था। शासक बनने पर उसने अपने सौतेली माँ (मौसी) से विवाह कर लिया। राजा के अन्तिम संस्कार की व्यवस्था हो रही थी, अतः आचार्य को एक मास तक यहाँ ठहर जाना पड़ा।

उस समय वहाँ एक 'ता-मो-संग-किय' (धर्म सिंह) नामक श्रमण रहता था। उसने अध्ययन के हेतु भारत की यात्रा की थी। 'सुंग-लिंग' पर्वत के उस पार पश्चिम में उसे लोग 'फा-सियाँग' (सूत्रकार) कहते थे। 'सू-लेह' (कासगर) और 'फ्र-तिन' (खोतन) के विद्वान उससे शास्त्रार्थ नहीं कर पाते थे। सुयेन-च्वांग ने उसकी परीक्षा लेने के अभिप्राय से उसके पास दूत भेजा कि पूछ आवो, 'वह किन-किन सूत्रों की व्याख्या कर सकता है।' उसके शिष्य उस समय धर्म सिंह को घेरे हुये थे। वे सब यह प्रश्न सुनते ही ठक हो गये, पर धर्म सिंह ने उत्तर भेजा कि, "जो कहो उसकी व्याख्या कर सकता हूँ।" आचार्य ने यह सोचकर कि यह महायान सूत्र से अभिज्ञ है—इस लिए उसने विभाषा तथा हीन-यान के सूत्रों के विषय में प्रश्न किया। इनका उत्तर न दे सकने पर उसने अपनी अल्पज्ञता स्वीकार कर ली। उसके शिष्य लज्जित हो उठे। उसके पश्चात जब कभी वे मिलते तो वह श्रमण बड़ा प्रसन्न होता। वह आचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता और यह स्वीकार करता कि आचार्य का ज्ञान उससे कहीं अधिक है।

धर्म सिंह

जब शेह (तेले शेह) राज्यभार संभाल चुका तो आचार्य ने उससे

क्षुद्र राजग्रह

कहा कि उसकी यात्रा के हेतु दूत और घोड़ों का प्रबन्ध कर दे, क्योंकि उसकी इच्छा अब दक्षिण ब्राह्मणों के देश (भारत) को प्रस्थान करने की है। 'शेह' ने विचार कर कहा, "आप के दास का अधिकार 'फो-हो-लो' (वक्ष्) प्रदेश पर भी है जिसके उत्तरी सीमा पर 'अक्सस' नदी है। यहाँ की प्रधान नगरी का नाम 'क्षुद्र-राज-गृह' है। यहाँ बहुत से पवित्र चिन्ह (विहार-स्तूप) हैं। आप वहाँ कुछ दिन रहकर इन स्थानों का दर्शन-पूजन करें और तदन्तर दक्षिण की ओर प्रस्थान करें।"

उस समय 'वक्ष्'[1] के सैकड़ों भिक्षु 'शेह' के पास उसके पिता के देहान्त पर सहानुभूति प्रकट करने आये थे। आचार्य उनसे मिला और उसने अपनी इच्छा प्रगट की तब उन भिक्षुओं ने कहा, "आप हमारे साथ तुरन्त चलें। मार्ग अब खुला है, परन्तु यदि आप विलंब करेंगे तो यात्रा कठिन हो जायगी।" इस पर आचाय ने 'शेह' से तुरन्त विदा ली और उसने उन भिक्षुओं के साथ प्रस्थान किया। 'वक्ष्' (बलख) पहुँचकर उसने नगर और उसके आस-पास भ्रमण किया। नगर उजाड़ हो रहा था, परन्तु स्थान अत्यंत रमणीक था।

यहाँ १०० संघाराम और तीन सहस्त्र हीन-यान के भिक्षु रहते थे।[2] नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक 'नव-संघाराम था।

नव-संघाराम

यह बड़ा भव्य और इसकी इमारत बड़ी अपूर्व रीति से अलंकृत थी। इसके बड़े कमरे में बुद्ध का जल-पात्र रखा था जिसमें दो पेक आ सकता था। यहाँ एक इंच लम्बा और आठ या नौ दशांश इञ्च चौड़ा बुद्ध का दाँत भी है। यह सफेदी लिये हुए पीले रंग का है। इसमें से दिव्य ज्योति निकलती है।

---

[1] वाल्हीक। [2] इससे स्पष्ट है कि उस समय के पूर्व बौद्ध मत यहाँ पहुँच चुका था।

यहाँ बुद्ध की पिच्छिका (बुहारी) भी रखी है। यह कुश की है और तीन फुट लंबी है और कदाचित् सात इञ्च मोटी है। इसकी मूठ रत्नों से जड़ी है। ये तीनों वस्तुएँ उत्सव के दिन बाहर निकाली जाती हैं; और यहाँ यती गृही सभी पूजा के निमित्त एकत्र होते हैं। भक्त लोगों को उसमें से प्रकाश निकलता दिखाई पड़ता है।

ती-बेई और पोली

संघाराम के उत्तर एक स्तूप है जो २०० फुट ऊँचा है। स्तूप के दक्षिण-पश्चिम एक पुराना विहार है, जो भिक्षु, धर्म के चारों अवस्थाओं को प्राप्त कर यहाँ रहते हुए निर्वाण को प्राप्त होते हैं उनके स्मारक स्तूप यहाँ लोग बना दिया करते हैं। इस प्रकार यहाँ आस-पास सैकड़ों स्तूप हैं। बड़े नगर के उत्तर-पश्चिम ५० ली पर 'ती-वेई' नगर है। इसके उत्तर ४० ली पर 'पो-ली' नगर हैं। यहाँ तीन चाँग ऊँचे दो स्तूप हैं। प्राचीन काल में जब भगवान बुद्ध को बोधिज्ञान प्राप्त हुआ था उस समय भगवान ने दो व्यापारियों (वैश्यों) के हाथ से मधु और भोजन ग्रहण किया था। ये व्यापारी उस समय वहीं (गया में) थे। जब उन सब ने भगवान से शीलसूत्र तथा शिक्षा पदों का उपदेश सुना तो उन सब ने उन्हें उपहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। तथागत ने उन व्यपारियों को कुछ नख और बाल दिये और स्तूप बनवाने का आदेश किया। ये व्यापारी[1] धातु लेकर अपने देश लौटे और उन्होंने इन दो स्तूपों का निर्माण करवाया।[2] नगर के पश्चिम ७० ली पर एक स्तूप है जो दो

---

[1]चीनी शब्द चाँग-ची है। यह संस्कृत 'श्रेष्ठम्' शब्द से मिलता है। इसका अर्थ व्यापारी, सेठ, महाजन होगा।

[2]बलख (वाल्हीक) से व्यापारी, मगध आते थे। यह बात ध्यान देने की है। व्यापार का इतना बढ़ा-चढ़ा संबंध था।

च्वाँग ऊँचा होगा। इनका निर्माण कश्यप के जीवन-काल में हुआ था। इन्हें हुए बहुत दिन हुए।

प्रज्ञाकर

'नव-संघाराम' में एक **'चेका'** (टक्क) का भिक्षु रहता था जो हीनयान के तीनों पिटकों का अध्ययन कर चुका था। उसका नाम **'प्रज्ञाकर'** था। वह **'फो-हो-ली'** (वक्षु) में पवित्र स्थानों के दर्शन के निमित्त आया था। यह बड़ा बुद्धिमान और विद्वान था। वह युवावस्था से अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध था। उसने नव-अंगों और चार आगमों को भली भाँति अध्ययन किया था। उसके विद्वत्ता की ख्याति भारत भर में फैली थी। वह हीनयान के अभिधर्म, कात्यायन-कोष, षट्पदाभिधर्म, तथा अन्य ग्रंथों का उत्कट विद्वान था।

आचार्य का धर्मग्रंथों के अनुशीलन के निमित्त यहाँ आना सुनकर वह उससे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। आचार्य ने बात-चीत में कोष, विभाषा तथा अन्य ग्रन्थों के विषय में अपनी शंकाएँ उसके सामने उपस्थित कीं, तो प्रज्ञाकर ने बड़ी स्पष्टता से उसका समाधान किया। आचार्य यहाँ रुककर विभाषा शास्त्र का अध्ययन करने के हेतु एक मास रहा। इसी संघाराम में दो और भिक्षु रहते थे जो हीनयान के त्रिपिटक के ज्ञाता थे। उनका नाम **'ता-मो-पि-लो'** (धर्म-प्रिय) और **'ता-मो-कि-ली'** (धर्मकर) था। और लोग उनका बड़ा आदर करते थे। आचार्य की विद्वत्ता तथा प्रतिभा देख कर वे उसका बड़ा आदर करते थे।

जुमध और जुज़गान

'वक्षु' के दक्षिण-पश्चिम **'जूई-मो-तो'** (जुमध) और **'हू-शी-कियेन'** (जुज़गान)[1] जनपद हैं। वहाँ के राजाओं ने आचार्य का दूर से आना सुनकर उनके पास अभ्यर्थनार्थ

---

[1] इन स्थानों के लिये 'यात्रा' पढ़िये।

अपने दूत भेजे और उसे अपने देशों में निमंत्रित किया। पर आचार्य ने इसे अस्वीकार किया। दूत लौटकर फिर कई बार आग्रह करने आये। तब आचार्य को स्वीकार करना पड़ा। राजाओं ने आचार्य के आगमन पर बड़ी खुशी मनाई और उसे बहुत सा सोना, रत्न, खाद्य पदार्थ देना चाहा पर आचार्य ने एक न लिया और लौट आया।

प्रज्ञाकर के साथ वाह्लीक से दक्षिण यात्राकर आचार्य 'केइ-ची' (गज्ञ) जनपद पहुँचा।

केइ-ची

इस राज्य के दक्षिण-पूर्व चलकर वे 'हिम-शैल' में प्रविष्ट हुए और ६०० ली की यात्रा कर के 'तू-हो-लो' (तुखार) जनपद की सीमा को पारकर वे 'फ़ान-येन-न' (बामियान) पहुँचे। यह जनपद पूर्व-पश्चिम २००० ली लंबा है। यह 'हिमशैल' के बीच में स्थित है। यहाँ की कीचड़ भरी सड़कों और भयानक दर्रों और रास्तों को पार करने में बर्फीली मरुभूमि से दूनी कठिनाई पड़ती है। बराबर ओले और बर्फ गिरती रहती है। कहीं चक्करदार टेढ़े-मेढ़े रास्ते मिलते हैं। समतल भूमि में कई चाँग तक कीचड़ फैली रहती है। पश्चिम देशों की कठिनाइयों के बारे में 'सुंग-यू' का कहना कि "हिम के ऊँचे पर्वत और हज़ारों ली तक उड़ते हुये हिमपात", यहाँ के लिये भी लागू होता है।

'वाँग-त्सू' (वाँग-तो) जब 'किउ-ची' की बाँध बना चुका तब उसने कहा था, "मैं हान (वंश) का राजभक्त सेवक हूँ।" इसी तरह आचार्य ने भी धर्म की खोज में हिम-शैल की विकट घाटियों को पार किया था। इस लिये वह भी 'तथागत का सच्चा पुत्र (सेवक)' कहलाने के योग है। [वह कहा करता था।] आह! यदि मैंने लोक-लाभ के लिये अद्वितीय धर्म की खोज करने का प्रण न किया होता तो मैंने यही

उचित समझा होता कि मेरे पिता से उत्पन्न यह मेरा शरीर अपने रास्ते चला जाय (मृत्यु को प्राप्त हो।)[1]

इस प्रकार आचार्य 'बामियान' पहुँचा। यहाँ के प्रधान नगर में अनुमानतः १० धर्म स्थान (स्तूप) हैं तथा कई सहस्र भिक्षु यहाँ रहते हैं। ये लोकोत्तरवादी संप्रदाय के 'हीन-यान' के अनुयायी हैं।

बामियान

बामियान का राजा आचार्य को लेने आया और उसने उसे अपने प्रासाद में भिक्षा ग्रहण करने का निमंत्रण दिया। एक दो दिन (विश्राम) के बाद आचार्य दर्शन करने निकला।

वहाँ महा संघिक सम्प्रदाय के दो भिक्षु रहते थे जिनका नाम आर्यदास और आर्यसेन था। दोनों बड़े विद्वान थे। जब वे आचार्य से मिले तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बड़ी भक्ति हुई कि चीन ऐसे दूरस्थ प्रदेश में ऐसे विद्वान होते हैं। वे सुयेन-च्वाँग को बड़े आदर से भिन्न-भिन्न स्थान दिखलाने ले गये और उसके आदर-सत्कार में निरंतर लगे रहे।

दो भिक्षु

नगर के उत्तर-पूर्व पहाड़ी की ढाल पर एक १५० फुट की प्रतिमा खड़ी है। इस प्रतिमा के पूरब एक संघाराम है, जिसके पूर्व दिशा में शाक्य-मुनि की एक ताम्रजटित पत्थर की १०० फुट की मूर्ति है। संघाराम के भीतर एक निर्वाण अवस्था प्रदर्शन करनेवाली १००० फुट की भगवान की प्रतिमा है। ये सब प्रतिमाएँ सुन्दर और भाव पूर्ण हैं।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व २०० ली हिमालय पार करने पर लोग एक

---

[1] इस अंश के अनुवाद में मुझे पूर्वापर वाक्यों का क्रम बदलना पड़ा है जिसमें अर्थ स्पष्ट हो जाय। अनु०

शणकावास

छोटी घाटी[1] में पहुँचे। यहाँ एक संघाराम मिला जिसमें प्रत्येक बुद्ध का एक दाँत रखा है। और 'प्रत्येक बोधिसत्व' का भी एक दाँत है, जो कल्प के आदि में यहीं रहते थे। यह दाँत ५ इँच लंबा और ४ इँच या इससे कुछ कम चौड़ा था। यहाँ एक चक्रवर्त्ती राजा का भी दाँत है। यह तीन इंच लंबा और दो इंच चौड़ा है। यहाँ 'शाँग-नो-किया-फो-श' (शणकावास) का लौह पात्र है। इसमें ८ या ९ पाइन्ट आ सकता है। 'शणकवास' का लाल रँग का संगाती वस्त्र भी रखा है। यह व्यक्ति अपने ५०० जन्मों में इसी वस्त्र को पहने हुए उत्पन्न हुआ था पर जब वह बौद्ध मत में आ गया तो उसने इसके स्थान पर कषाय वस्त्र पहना। इसकी एक लंबी कथा है। इसका हाल अन्य ग्रंथों (सि-यु-की) में मिलेगा।

इस प्रकार १५ दिन बीत गये। 'बामियान' से प्रस्थान करके मार्ग में दूसरे दिन हिम-पात हुआ, जिसके कारण आचार्य मार्ग भूल गया। एक छोटे बालू के टीले के पास पहुँचने पर उन्हें कुछ शिकारी मिले। उन्हों ने मार्ग दिखाया। 'काला पर्वत'[2] पार कर वे लोग 'कपिशा' की सीमा पर पहुँचे।

कपिशा

यह जनपद ४००० ली परिधि में है। इसके उत्तर में हिम-शैल (हिमालय) है। पर यहाँ का राजा क्षत्रि जाति का था। वह चतुर और पराक्रमी पुरुष था। उसने दस राज्यों को अपने आधीन किया था।

आचार्य के नगर में पहुँचने के पूर्व राजा, और भिक्षु-गण उसका स्वागत करने आये और उसे नगर में लिवा गये। यहाँ सैकड़ों संघाराम और

---

[1] चीनी शब्द चियुन है जिसका अर्थ नदी है, पर घाटी से तात्पर्य है।
[2] कोह-बाबा [स्याह-कोह]।

विहार थे। प्रत्येक अपने यहाँ ठहरने के लिये आचार्य से आग्रह करने लगा।

यहाँ एक विहार हीनयान संप्रदाय का था जिसका नाम 'श-लो-किय'[१] था। इसकी कथा यों है। लोग कहते हैं कि

शरक

जब 'हान' सम्राट के पुत्र यहाँ शरीरबंधक होकर आये थे तो उस समय यह विहार बना था। यहाँ के स्थविर ने कहा, "हमारा विहार 'हान' सम्राट के पुत्र का बनवाया है। आप उस देश से आते हैं इस हेतु आप को यहीं ठहरना चाहिये।"

आचार्य उनके आग्रह पर मुग्ध हो गया। उसका साथी आचार्य 'हुई-सिंग' (प्रज्ञाकर) हीन यान का अनुयायी था, इस लिये वह यहाँ के महायान के भिक्षुओं के यहाँ ठहरना नहीं चाहता था। तब वे दोनों उसी विहार में ठहरे जो चीनी कुमार ने बनवाया था।

इस विहार में भगवान बुद्ध के मंदिर के पूर्वी द्वार के दक्षिण वैश्रवण की प्रतिमा के नीचे बहुत-सा धन गड़ा था जो मंदिर की मरम्मत के निमित्त वहाँ रखा था। चीनी कुमार के इस उपकार के बदले वहाँ के पुरोहितों ने मंदिर के मुख्य-मुख्य भागों में उसका चित्र दीवाल पर अंकित करा दिया था। वार्षावास में यहाँ संघ की परिषद् होती है और उसमें धर्मग्रंथों का पाठ होता है जिससे धर्म का प्रचार हो। यह प्रथा बहुत पुराने समय से चली आती है और यह अब भी प्रचलित है।

कुछ दिनों की बात है: एक दुष्ट राजा ने लालचवश मंदिर के धन को उठा ले जाने की इच्छा की। इस हेतु

गड़ा हुआ धन

उसने वैश्रवण की प्रतिमा के नीचे खोदने के लिए आदमी भेजे। उस समय पृथ्वी काँप उठी और प्रतिमा के सिर पर

---

[१]शेरिक [यह चीनी नाम है] या शरक।

बना हुआ तोता फड़फड़ाने और जोर से चीखने लगा। राजा और उसकी सेना के लोग डर से भूमि पर गिर पड़े। इसके बाद वे लौट गये।

विहार में एक स्तूप है। उसकी बाहरी दीवार गिर गई थी। यहाँ के भिक्षुओं ने उसकी मरम्मत कराने की इच्छा से धन को खोदना चाहा। प्रयत्न करते ही पृथ्वी फिर काँप उठी और गर्जन होने लगा। इस लिए किसी का साहस न हुआ कि समीप जाय।

जब आचार्य वहाँ पहुँचा तो सब लोगों ने उससे सारी घटना का वर्णन किया और उससे प्रार्थना की (कि वह उसे खोदवावे)। आचार्य और सब लोग उस स्थान पर पहुँचे जहाँ प्रतिमा थी और धूप जलाकर विनती करने लगे, "राजकुमार (चीनी) ने पहले यहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ छिपा रखी हैं जो इस मंदिर की मरम्मत आदि धर्म कार्य्यों के व्यय के लिए हैं। अब उस धन को निकालने का अवसर आ पहुँचा है कि वह व्यय किया जाय। हमारी प्रार्थना है कि हे देव! आप हमारे अंत:करण की बात समझकर अपना प्रभाव उठा लें और हमें धन निकालने दें। मैं युयेन-च्वांग स्वयं अपने सामने धन निकलवाऊँगा और उसे सहेजूँगा (ठीक-ठीक तौलूँगा); और मजूरों को मजूरी दूँगा और ठीक उतना ही खर्च करूँगा जितना मंदिर की मरम्मत में आवश्यक है। किसी तरह अपव्यय न होने दूँगा। हम वैश्रवण से प्रार्थना करते हैं कि हमारे उद्देश की सत्यता की परीक्षा करें।"

यह कहकर आचार्य ने खोदने की आज्ञा दी। काम निर्विघ्न, शान्तिपूर्वक हो गया। सात-आठ फुट खोदने पर एक ताँबे का कराहा मिला जिसमें कई सौ सोने के टुकड़े और कई कोड़ी मोतियाँ थीं। सब लोग बड़े आनंदित हुए और आचार्य की प्रशंसा करने लगे। आचार्य ने वर्षावास इसी विहार में व्यतीत किया।

शास्त्रार्थ का आयोजन

यहाँ का राजा कला-कौशल का कम ध्यान रखता था। वह महायान का पूर्ण भक्त है। उसकी, संघ परिषद् और शास्त्रार्थ में बड़ी रुचि थी, अतः उसने आचार्य और त्रिपिटकचार्य प्रज्ञाकर से कहा कि महायान के विहार में एक सभा की जाय। इस विहार में त्रिपिटकाचार्य 'मनोज्ञ घोष'[1], 'स-पो-तो', 'अ-ली-ये-फ-मो' (सर्वास्तिवादिन् आर्य्य वर्मा) और, महिशासक संप्रदाय का 'कु-ना-पो-तो' (गुणभद्र) नामक विद्वान रहते थे। ये उस विहार के प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये सब शास्त्रों के ज्ञाता न थे, वरन् प्रत्येक एक-एक 'यान' का ज्ञान रखता था। यद्यपि वे अपने विषय के अच्छे विद्वान थे पर उनका ज्ञान संकुचित था।

परन्तु आचार्य ने सब संप्रदायों के शास्त्रों का अध्ययन किया था। उसने प्रत्येक के प्रश्नों का उत्तर भली-भाँति दिया। उपस्थित लोगों को उसके विस्तृत तथा श्रेष्ठ ज्ञान को स्वीकार करना पड़ा।

इस प्रकार पाँच दिन तक शास्त्रार्थ हुआ तब सभा विसर्जित हुई।

राजा ने प्रसन्न होकर आचार्य को पाँच थान कामदार रेशमी वस्त्र दिये और अन्य लोगों को और वस्तु दीं।

'श-लो-कि-या' विहार में वर्षावास बिताकर प्रज्ञाकर 'तुखार' (तुषार) के राजा के निमंत्रण पर 'बलख' चला गया। आचार्य उससे विदा होकर पूर्व दिशा में चला। काले पहाड़ को (स्याह कोह) पारकर ६०० ली चलकर भारत की सीमा में प्रविष्ट हो वह 'लान-पो' (लमगान) जनपद पहुँचा।

लान-पो

यह जनपद १००० ली घेरे में है। यहाँ दस संघाराम हैं और उनमें रहनेवाले भिक्षु महायान के अनुयायी हैं। यहाँ तीन दिन ठहरकर आचार्य दक्षिण ओर चला

[1] मो-नू-जो-किठ-श।

और एक पहाड़ी पर पहुँचा जहाँ एक स्तूप था। यहाँ पहले भगवान बुद्ध ठहरे थे जब वे दक्षिण से आये थे। इसी लिए लोगों ने पीछे से भक्ति पूर्वक यहाँ स्तूप बनवा दिया था। इसके उत्तर के सारे प्रदेश 'मी-ली-क्रू' (सरहद, म्लेच्छ देश) कहलाता है। तथागत को जब वहाँ उपदेश करने जाना होता था तो वे आकाश मार्ग से जाते थे और कभी पृथ्वी पर पैर नहीं रखते थे, क्योंकि यहाँ की पृथ्वी उनके चरण स्पर्श से काँप उठती थी।[1]

यहाँ से दक्षिण २० ली चलकर पर्वत[2] से उतरकर, एक नदी पार कर आचार्य 'ना-की-लो-हो' (नगरहार) जनपद पहुँचा। राजधानी के दक्षिण-पूर्व दो ली पर एक स्तूप है जो ३०० फुट ऊँचा है। यह अशोक राजा का बनवाया है। यह द्वितीय असंख्येय कल्प में शाक्य बोधिसत्व 'जन-तंग-फो' (दिपंकर बुद्ध) से मिले थे। उन्होंने अपना मृग चर्म और बाल बिछाकर बुद्ध को कीचड़ से बचाया था और इसके बदले उन्हें आशीर्वाद मिला था (कि वे बुद्धत्व को प्राप्त होंगे)। यद्यपि इस घटना को बीते कल्प बीत गये पर इसके चिन्ह अभी वर्तमान हैं। देव लोग यहाँ पुष्प वर्षा कर बराबर उसकी पूजा किया करते हैं।

नगरहार

आचार्य ने भी वहाँ पहुँचकर पूजा की और उस स्थान की प्रदक्षिणा की। उस स्तूप के निकट एक वृद्ध भिक्षु रहता था। उसी ने आचार्य को इस स्तूप के निर्माण की कथा बतलाई।

आचार्य ने पूछा था, "बोधि सत्व ने द्वितीय असंख्येय में मृग चर्म और अपनी जटा बिछाई थी। इसको हुए अनेक कल्प हो गये। इन कल्पों

---

[1] तात्पर्य्य यह है कि 'म्लेच्छ देश' से होकर नहीं जाते थे। अनु०

[2] पर्वत से कदाचित तात्पर्य्य दूसरे पर्वत से है; काले पर्वत से नहीं। अनु०

में अनेक बार सृष्टि बनी और नष्ट हुई। जब सुमेर पर्वत भी कल्पांत में भस्म हो जाता है तो यह स्थान कैसे नष्ट नहीं हुआ।"

उसने उत्तर में कहा, "कल्पान्त में यह स्थान भी नष्ट हो जाता है पर कल्पारंभ में यह स्थान भी ज्यों-का-त्यों हो जाता है। जैसे सुमेर पर्वत नष्ट होने के पश्चात फिर ज्यों-का-त्यों हो जाता है उसी भाँति यह स्थान भी हो जाता है। इसमें संदेह क्या है।" यह मार्के का उत्तर था।

इसके दक्षिण-पश्चिम १० ली पर एक स्तूप है। यहाँ पर बुद्ध ने (दीपंकर अवस्था में) फूल मोल लिया था।[१]

हिड्डा

दक्षिण-पूर्व एक बालू के टीले को पारकर वे लोग बुद्ध 'हिड्डा' नामक नगर पहुँचे। यहाँ एक दो मंजिला विहार है जिसके ऊपरी हिस्से में छोटा सा स्तूप है जो अनेक बहुमूल्य धातुओं का बना है। इसमें तथागत का उष्णीष धातु है (सिरके ऊपरी भाग की अस्थि है)। यह अस्थि एक फुट दो इंच गोलाई में है। बालों के मूल स्थान स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इस हड्डी का रंग पीलापन लिये हुए सफ़ेद है। यह एक रत्नजटित संपुट में रक्खा है। यदि किसी की इच्छा अपने भाग्य (पाप-पुण्य) को जानने की होती है तो वह सुगंधित चूर्ण (चन्दन) का लेप बनाता है और उसे एक रेशमी वस्त्र पर लगाकर उस उष्णीष पर चिपका देता है। उस पर पड़ी छाप के अनुसार लोग अपने भाग्य के शुभ-अशुभ-लक्षण का निश्चय करते हैं।

आचार्य ने छाप ली तो बोधि वृक्ष का चित्र निकला। दो श्रमणेरों ने छाप ली तो एक में बुद्ध का चित्र, दूसरे में कमल का चित्र निकला। पुजारी ब्राह्मण इस पर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने आचार्य के

---

[१] इसका वृत्तान्त 'यात्रा विवरण' में मिलेगा।

सामने अंजुलि भर पुष्प छितराते हुए[1] कहा," आप के छाप का चित्र वहुत कम आता है। इससे निश्चय है कि आप को बोधिज्ञान लाभ होगा।"

यहाँ एक विहार में कमल पत्र के आकार की वुद्ध की कपाल की अस्थि भी है। आम्र फल के आकार का चक्षु-गोलक भी है। यह इतना प्रकाशमय है कि उसकी किरणें संपुट के बाहर कुछ दूर तक पहुँचती हैं। यहाँ वुद्ध का सङ्घाति वस्त्र भी है जो पतले चमकीले सूती कपड़े का है। यहाँ भगवान का दण्ड भी हैं जिसकी मूठ वंग धातु (टीन) की है। दण्ड चन्दन की लकड़ी का है। आचार्य ने इन सब की पूजा की और अपनी पूजा के उपलक्ष्य में उसने भक्ति पूर्वक भिन्न-भिन्न मन्दिरों को ५० स्वर्ण खण्ड, एक सहस्त्र रजत खण्ड, चार रेशमी पताके, दो थान कामदार साटन और दो जोड़े कषाप परिधान चढ़ाये। भक्ति पूर्वक साष्टांग प्रणाम कर वह वहाँ से लौटा।

दीपांकर नगर

आचार्य ने सुना कि 'दिपंकर' के नगर के दक्षिण-पश्चिम लगभग २० लीं पर एक गुफा है जिसमें गोपाल नामक नाग राज रहता है। तथागत ने प्राचीन समय में इस नाग, को वश में किया था और उसकी प्रार्थना पर उन्हों ने गुफा में अपनी छाया छोड़ दी थी। आचार्य की इच्छा वहाँ पूजा करने के लिए जाने की हुई परन्तु लोगों ने कहा कि वहाँ की सड़क निराली, उबड़-खावड़ है और मार्ग में डाकू बहुत लगते हैं तथा दो तीन वर्षों से यात्री लोगों को छाया के दर्शन भी नहीं हुए हैं।

आचार्य की इच्छा गुफा देखने और पूजा करने की थी। उस के

---

[1] वाक्य का शब्दार्थ यह है—उँगलियों को एक के भीतर एक रखकर उसके सामने फूल छितराते हुए (With his fingers interlaced then scattering flower beforehim.)

साथ आये हुए कपिशा के राजदूत लौटने के लिये व्यग्र थे। उन्हों ने आचार्य को शीघ्रता करने और गुफा की यात्रा का विचार छोड़ने की सलाह दी। आचार्य ने उत्तर दिया, "भगवान की छाया का दर्शन अनेक सहस्त्र कल्प में भी कठिनाई से होता है तो यहाँ इतने निकट आकर मैं उसका दर्शन करने से क्यों वंचित रहूँ। आप लोग आगे चलें मैं लौटकर रास्ते में मिलूँगा।"

आचार्य यह कहकर अकेले गया और दीपंकर के नगर में पहुँच कर वह एक संघाराम में पहुँचा और मार्ग आदि का पता लगाने लगा परन्तु कोई उसे पथप्रदर्शक न मिला। कुछ समय पश्चात उसे एक छोटा बालक मिला जिसने कहा, "संघाराम की जहाँ खेती होती है वह स्थान बहुत दूर नहीं है, मैं आप को वहाँ पहुँचा दूँगा।" आचार्य उस लड़के के साथ गया और (सीर) के मकान[१] पर पहुँचा। यहाँ रात भर रहा। यहाँ उसे एक वृद्ध मिला जो मार्ग से परिचित था। आचार्य उसको लेकर गया। दो एक ली जाकर उन्हें पाँच बटपार मिले जो हाथ में खड्ग लेकर उन पर झपटे। आचार्य ने तुरन्त अपना परिधान उतारकर अपना भिक्षु वस्त्र (कौषेय) दिखा दिया। डाकुओं ने पूछा "आप कहाँ जायँगे?" आचार्य ने उत्तर दिया, "मैं बुद्ध की छाया के दर्शनार्थ आया हूँ।" डाकुओं ने कहा, "क्या आप को नहीं पता था कि यहाँ मार्ग में डाकू लगते हैं।" आचार्य ने उत्तर दिया, "डाकू भी मनुष्य हैं। मैं भगवान के दर्शन को जाता हूँ। मार्ग में चाहे भयानक पशु ही क्यों न मिलें मुझे कोई भय नहीं है। और तुम्हारा मैं क्यों भय मानूँ। तुम तो मनुष्य हो और हमारे रक्षक हो।"

डाकुओं के हृदय पर यह सुन कर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्हों ने

---

[१] Farm house.

आचार्य को अपने रास्ते जाने दिया। वे लोग चलकर गुफा के पास पहुँचे।

गुफा एक पहाड़ी जल मार्ग के पूर्व दिशा में है। उस का द्वार पश्चिम की ओर है। गुफा में कुछ दिखाई नहीं पड़ता; एक दम अँधेरा है। वृद्ध ने आचार्य से कहा, "आप सीधे पूर्व जाइये और दीवार मिल जाने पर ५० पग पीछे लौटिये और पूर्ववाली दीवार की ओर मुख कर के देखिये। वहीं छाया दिखाई पड़ेगी।" आचार्य ने गुफा में प्रवेश किया और आदेशानुसार ५० पग पीछे हटकर वह चुपचाप खड़ा हो गया और भक्तिपूर्वक उसने १०० प्रणिपात किया परन्तु उसे कुछ न दिखाई पड़ा। उसने अपने को अपने दुर्भाग्य पर धिक्कारा और दुखी होकर रोने लगा। तब फिर वह मन लगा कर 'शिंग-क्वान' तथा अन्य सूत्रों का पाठ करता हुआ दण्डवत करने लगा। उसने बुद्धगाथा पढ़नी आरंभ की और प्रत्येक श्लोक के बाद वह एक बार प्रणिपात करता। सौ प्रणिपात कर चुकने पर उसे पूर्वी दीवार पर एक पात्र के बराबर की ज्योति दिखाई पड़ी जो क्षण भर के बाद अदृश्य हो गई। आचार्य को आनंद और दुख दोनों हुआ और वह फिर जप करने लगा। तब उसे एक बड़ा ज्योति-बिंब दिखाई पड़ा। यह भी तुरन्त अदृश्य हो गया। तब आचार्य ने भक्ति और अभिलाषा से प्रेरित होकर प्रण किया कि यदि बुद्ध भगवान की छाया के दर्शन न होंगे तो मैं लौटूँगा नहीं। तब उस ने २०० बार जप और प्रणिपात किया। तब सारी गुफा ज्योति से जगमगा उठी और दीवार पर तथागत की शुभ्र छाया दिखाई पड़ने लगी मानो बादलों के हट जाने से सुमेरु पर्वत की सुन्दरता दिखाई पड़ती हो। भगवान के मुख की आभा स्पष्ट थी। आचार्य उस को आश्चर्य और भक्ति से देखने लगा। उसे उपमा न सूझती थी। भगवान का शरीर और उनका कषाय वस्त्र पीले-लाल रंग का था। घुटने से ऊपर का भाग स्पष्ट दिखाई पड़ता था। नीचे का भाग—कमलासन आदि उतना

स्पष्ट नहीं था। छाया के दाहिने-बाएँ बोधिसत्व और भिक्षु संघ दिखाई पड़ते थे।

दृश्य देखकर आचार्य ने अपने साथ के छः आदमियों से आग और धूप लाने को कहा। ये लोग बाहर कुछ दूरी पर खड़े थे। आग आते ही छाया अदृश्य हो गई। आचार्य ने आग बुझवा दी और उसके प्रार्थना करने पर छाया फिर दिखाई पड़ी। छः आदमियों में से पाँच ने छाया के दर्शन किये। एक को कुछ नहीं दिखाई पड़ा। छाया थोड़ी देर तक दिखाई पड़ती रही। इसी बीच आचार्य ने पूजा-पाठ किया, धूप दिया, फूल चढ़ाये; फिर छाया लुप्त हो गई।

गुफा से चलने पर आचार्य का पथप्रदर्शक ब्राह्मण चमत्कार की प्रशंसा करके बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा, "यदि आप की भक्ति और पूजा-पाठ न होता तो ऐसा कभी न होता।" गुफा के द्वार के बाहर और भी बहुत से पवित्र स्मारक स्थान थे। उनके लौटने पर वे पाँचों डाकू मिले और अपना अस्त्र-शस्त्र अलग रख उन लोगों ने उपदेश ग्रहण किया और तब गये।

आचार्य इस के पश्चात् अपने साथियों से मिला और उनके साथ दक्षिण-पूर्व दिशा में चलकर पर्वत लाँघकर ५०० ली की यात्रा कर '**गाँधार**' जनपद पहुँचा।

गाँधार

इस जनपद की पूर्वी सीमा पर 'सिं-तु' (सिंधु) नदी बहती है। इस की राजधानी का नाम 'पो-लू-श-पो-लो' (पुरुषपुर)[१] है। इस प्रदेश में प्राचीन काल से अनेक महात्माओं और ऋषियों ने ग्रंथों की रचना की है। उदाहरणार्थ 'ना-लो-येन-सेन' (नारायन देव) 'वू-चो-चु-स' (असंघ बोधिसत्व), 'शी-शिन-पु-सा' (वसुवंधु बोधिसत्व) 'फा-कियो'

---

[१] आधुनिक पेशावर नगर।

(धर्मत्राता), 'जू-इ' (मनोहृत), 'हि-सुन-चे' (परस्विक) तथा अन्य लोग। ये सब यहीं के निवासी थे।

नगर के उत्तर-पूर्व दिशा में सुन्दर स्तूप बना है जिसमें भगवान का पात्र था। यह पात्र बाद को अनेक देशों में पहुँचा। इस समय यह 'पो-लै-न-स' (वाराणस) जनपद में है।

नगर के दक्षिण-पूर्व थोड़ी दूर पर एक 'पी-पो-लो' (पीपल) का वृक्ष १०० फुट ऊँचा है। यहाँ विगत चारों बुद्ध बैठा करते थे। उनकी प्रतिमाएँ यहाँ रखी थीं। ९९६ बुद्ध जो आगे होंगे यहीं बैठेंगे।

वृक्ष के निकट एक स्तूप है। यह कनिष्क राजा का बनवाया है। यह ४०० फुट ऊँचा है। उसकी नींव परिधि में १$\frac{1}{2}$ ली है और इसका चबूतरा १५० फुट ऊँचा था। स्तूप के ऊपर २४ धर्म चक्र बने हैं जो धातु या रत्न के हैं। स्तूप में बुद्ध के धातु हैं जो दस 'पेक' (एक हो) परिमाण में होगा।

बड़े स्तूप के दक्षिण-पश्चिम १०० पग पर एक सफ़ेद पत्थर की १८ फुट की प्रतिमा है। यह उत्तराभिमुखी खड़ी है। इसके विषय में अनेक चमात्कारपूर्ण बातें सुनने में आईं। कहते हैं कि लोगों ने इस प्रतिमा को रात में स्तूप की ओर जाते देखा है।

पुष्कलवती

कनिष्क संघाराम के उत्तर पूर्व १०० ली पर एक नदी पारकर के लोग 'पो-शी-के-लो-फ-ती' (पुष्कलवती) नगर पहुँचे। नगर के पूर्व दिशा में अशोक राजा का एक स्तूप है। यहीं विगत चार बोधिसत्वों ने धर्म का उपदेश किया था।

नगर के उत्तर चार या पाँच ली पर एक संघाराम है, जिसके भीतर एक स्तूप है जो २०० फुट ऊँचा है। यह अशोक राजा का बनवाया है। यहीं शाक्य बुद्ध ने बोधिकाल में परोपकार किया था। सहस्रों जन्म तक वे यहाँ के राजा रहें और उस समय अपनी आँखें

निकाल कर उन्होंने धर्मार्थ दे दीं थीं। इन घटनाओं के स्मारक अनेक स्थल यहाँ हैं।

आचार्य ने इन सब स्थानों का दर्शन किया और उनकी पूजा की।

आचार्य प्रत्येक संघाराम तथा विहार को सोना, चाँदी, वस्त्र परिधान आदि चढ़ाता था। ये सब उसे 'काउ-चाँग' के राजा से मिले थे। बहुत दिनों तक पूजा पाठकर वह वहाँ से विदा हुआ।

उद्यान

यहाँ से चलकर वह 'उ-तो-किय-हन-च' (उटखण्ड) नगर पहुँचा। इस नगर से उत्तर दिशा में चलकर पर्वत और घाटियों को पार करता हुआ ६०० ली की यात्रा कर वह 'उ-चग-न' (उद्यान) जनपद में प्रविष्ट हुआ।

'सु-पो-स-तु' (सुवास्तु) नदी के दोनों किनारों पर प्राचीन काल में १४०० संघाराम बने थे। इनमें १८,००० भिक्षु रहते थे। परन्तु अब तो यह खण्डहर और निर्जन था[1]।

यहाँ भिक्षु, जो परम्परागत धर्म का पालन करते थे निम्नलिखित पाँच सम्प्रदायों के थे। धर्मगुप्त संप्रदाय, महीशासक संप्रदाय, काश्यप संप्रदाय, सर्वास्तिवाद संप्रदाय और महासंघिक संप्रदाय।

यहाँ का राजा 'मुँग-के-ली' (मंगली)[2] नगर में रहता है। यह समृद्ध और अच्छी तरह बसा हुआ है। नगर के पूरब चार या पाँच ली पर एक बड़ा स्तूप है जिसमें अनेक चमत्कारपूर्ण प्रभाव बतलाये जाते हैं। यहीं वह स्थान है जहाँ पूर्व जन्म में बोधिसत्व ने शान्ति ऋषि

---

[1]संयुन के समय (ई० ५२०) में यह जनपद बड़ा समृद्धशाली था। कदाचित मिहिरकुल ने इसका विध्वंस किया था। [illegible]

[2][illegible] स्थान।

होकर जन्म ग्रहण किया और कलि राजा को अपना शरीर टुकड़े-टुकड़े काटने दिया था[1]।

नगर के उत्तर-पूर्व २५० ली पर पर्वत के भीतर 'अ-पो-ला-लो' (अपलाल) नाग का कुण्ड है। वास्तव में यह 'सुवास्तु' नदी का उद्गम है। यह दक्षिण पश्चिम बहती है।

यहाँ बड़ी सर्दी पड़ती है। वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में भी संध्या, प्रातः काल हिमपात होता है। हिमपात, तथा घोर वर्षा होती रहती है। इन पर सूर्य-किरणों के पड़ने पर इन्द्रधनुष ऐसा देख पड़ता है मानो नाना रंग के फूल बिखरे हो।

नागह्रद

'नागह्रद' (कुण्ड) के दक्षिण-पश्चिम ३० ली पर नदी के उत्तर एक बड़ी शिला पर तथागत के चरण-चिह्न हैं। यह चरण-चिह्न उपासकों की भक्ति के अनुसार बड़े-छोटे दिखाई पड़ते हैं।

प्राचीन समय में जब तथागत ने 'अपलाल' नाग को परास्त किया था उस समय ये चरण चिन्ह छोड़ गये थे।

नदी के उतार पर ३० ली की यात्रा कर वे लोग उस स्थान पर पहुँचे जहाँ तथागत अपना वस्त्र धोया करते थे। कषाय परिधान के पुष्प तुल्य चिन्ह अब भी स्पष्ट लक्षित थे।

नगर ४०० ली दक्षिण 'ही-लो' पर्वत है। यहाँ तथागत ने प्राचीन काल में यक्ष से आधी गाथा सुनकर वृक्ष पर से अपना शरीर प्रदान किया था[2]।

'संगलो' नगर के पश्चिम ५० ली की यात्राकर वे लोग एक बड़ी

---

[1]यहाँ जूलियन का अनुवाद भ्रमपूर्ण है। अनु०

[2]इसकी कथा यात्रा विवरण में दी है। गाथा में ४२ शब्द होते हैं। सि-यू-की के अनुसार ३२ ही होते हैं। बील।

रोहितक

नदी पारकर एक स्तूप के पास पहुँचे जिसे 'लू-ही-त-क' (रोहितक) कहते हैं। यह १० चाँग (१०० फुट) ऊँचा है। यह अशोक का वनवाया है। यहीं पूर्व जन्म में मैत्रिवल राजा के रूप में जन्म लेकर तथागत वुद्ध ने अपना शरीर काटकर पाँच यक्षों को दे दिया था।

नगर के उत्तर-पूर्व ३० ली पर एक पत्थर का स्तूप है जिसे 'अद्भुत' कहते हैं। यह ३० फुट ऊँचा है। यहीं प्राचीन काल में भगवान ने देवताओं और मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया था। उनके पश्चात यह स्तूप स्वयं पृथ्वी से आविर्भूत हुआ था।

स्तूप के पश्चिम एक वड़ी नदी पार कर तीन या चार ली चलकर लोग एक विहार में पहुँचे जिसमें अवलोकितेश्वर वोधिसत्व की एक प्रतिमा है जिसमें अद्भुत गुण हैं।

दरील

नगर के उत्तर-पूर्व पर्वत और घाटियों को लाँघकर, नदी की चढ़ाव पर जाकर अनेक पर्वतीय मार्गों से चलकर जो कीचड़ (दलदल) और गढ्ढों से भरे हैं, कभी लोहे की जंजीरों और आकाश (झूलेवाला) पुलों से होकर १००० ली की यात्रा करके 'ता-ली-लो' (दरील) की घाटी मिलती है। यह 'उ-चाँग-न' (उद्यान) की प्राचीन नगरी का स्थल है।

इस घाटी में एक वड़ा संघाराम है जिसके समीप एक काष्ट की मैत्रेय वोधिसत्व की प्रतिमा है। यह वड़ी सौम्य और सोनहले रंग की है। यह १०० फुट ऊँची है। इसे अर्हत मध्यान्तिक ने वनवाया था। इस अर्हत ने अपने योगवल से एक शिल्पिन को तुषित स्वर्ग भेजा था कि वह जाकर मैत्रेय वोधिसत्व को देख आवे। तीन वार वहाँ जाकर उसने इस प्रतिमा को वनाया था।

'उ-तो-किया-हान-च'[1] नगर के दक्षिण जाकर 'सिं-तु' (सिन्धु) नदी को पार करना पड़ा। यह नदी यहाँ ३ या ४ ली चौड़ी है। उसका पानी स्वच्छ और प्रवाह तीव्र था। विषैले साँप और भूत-प्रेत इसके जल में रहते हैं। जो लोग भारत से रत्न, अलभ्य फूल, या धातु (भगवान के) आदि लेकर नदी पार करते हैं उनकी नाव भवँर में पड़ जाती है।

तक्षशिला

नदी पार कर सुयेन-च्वांग 'ता-चा-शी-लो' (तक्षशिला) पहुँचा। इस नगर के उत्तर १२ या १३ ली पर एक अशोक निर्मित स्तूप है। कहते हैं कि उसमें से ज्योति निकलती रहती है।

प्राचीन काल में जब तथागत यहाँ तपस्या कर रहे रहे थे तो उन्होंने अपना सिर इसी स्थान पर काट डाला था। उस समय वे एक बड़े जनपद के शासक थे और उसका नाम 'चन्द्रप्रभ' था। शिरश्च्छेद करके वे बोधिज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। यह ज्ञान उन्हें सहस्त्र जन्म पीछे प्राप्त हुआ।

स्तूप के निकट एक संघाराम है। प्राचीन काल में यहीं सौत्रांतिक 'कु-मो-लो-तो' (कुमार लब्ध) ने अनेक शास्त्रों की रचना की थी।

सिंहपुर

यहाँ से ७०० ली दक्षिण-पूर्व दिशा में जाकर 'संग-हो-पो-लो' (सिंहपुर) जनपद का मार्ग मिलता है। तक्षशिला के उत्तरीय सीमा से चलकर सिंधु नदी को पारकर दक्षिण-पूर्व दिशा में २०० ली पर मार्ग पहाड़ी दर्रे से होकर जाता है। यहीं प्रचीन काल में महासत्व ने राजकुमार के रूप में अपना शरीर सात भूखे व्याघ्र[2] शिशुओं को दे दिया था। यहाँ की भूमि लाल

---

[1] उत्खण्ड। दरील से सुयेन-च्वाँग उत्खण्ड लौट गया था। फिर आगे बढ़ा। अनु०। [2] चीनी शब्द वू-तू है। जिसका अर्थ बिल्ली है। संभवतः तात्पर्य व्याघ्र से है।

थी। और वृक्ष और झाड़ियाँ भी लाल थीं। कहते हैं कि ऐसा कुमार के रक्त के कारण हुआ है।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व दिशा में ५०० ली चलकर पर्वत पारकर आचार्य अपने साथियों सहित 'वू-ला-शी' (उरश) जनपद पहुँचा। यहाँ से दक्षिण-पूर्व यात्रा कर भयानक दर्रों और लोहे के पुलों को पारकर १००० ली का मार्ग चलकर लोग काश्मीर जनपद पहुँचे।

उरश

इसकी राजधानी, पश्चिम सीमा पर एक बड़ी नदी पर है। यहाँ १०० बौद्ध विहार थे। उनमें ५,००० भिक्षु रहते थे। यहाँ चार स्तूप अशोक राजा के बनवाये थे। ये बड़े ऊँचे और देखने में भव्य थे। प्रत्येक में भगवान का धातु था जिसका परिमाण एक अंश होगा।

आचार्य इस जनपद की सीमा पर पहुँचा तो वह जनपद के पश्चिमी द्वार से भीतर प्रविष्ट हुआ। यह द्वार पत्थर का था[1]। राजा ने अपनी माता और पुत्र को रथ लेकर उसके स्वागत के लिए भेजा। द्वार से प्रविष्ट होकर आचार्य मार्ग में संघारामों को देखता हुआ एक मंदिर में पहुँचा और वहीं रात बिताई। मंदिर का नाम 'उ-स्स-किय-लो' (हुशकर) था।

रात में भिक्षुओं ने स्वप्न देखा कि देवता उनसे कह रहे हैं, "यह विदेशी भिक्षु 'महा-चीन' से आया है वह धर्मग्रंथों का अध्ययन करना चाहता है, और उसकी इच्छा भारत के तीर्थों का दर्शन करने की है।" भिक्षुओं ने देवता को उत्तर दिया, "हम लोगों ने उस भिक्षु को अभी नहीं देखा है।" इस पर देवता ने उत्तर दिया, "यह व्यक्ति इतनी दूर से धर्मार्थ यहाँ आया है। उसके पीछे-पीछे अनेक देवता रहते हैं।

---

[1] संभवतः यह द्वार दो पहाड़ों के बीच का मार्ग था जो द्वार का काम देता था और उसकी रक्षा का प्रबंध था। अनु०

ऐसा व्यक्ति हम लोगों के यहाँ आया है और विश्राम कर रहा है। अतिथि सत्कार की बड़ी महिमा है। तुम लोगों को अब ध्यानपूर्वक धर्मग्रंथों का पाठ करके उस पुरुष की प्रशंसा लेनी चाहिए। तुम लोग क्यों आलसी होकर पड़े सो रहे हो।"

यह सुनकर पुजारी भिक्षु चैतन्य हो गये और अपने-अपने ध्यान, दर्शन, पूजन, पाठ में लग गये। सवेरा होते ही उन्होंने आपस में एक दूसरे से इस घटना का हाल कहा और अपने-अपने धर्म में अप्रमत्त हो गये।

इस प्रकार वे लोग अपने काम में लगे रहे। इस बीच आचार्य यात्रा कर राजधानी पहुँचा और एक ली पर स्थित धर्मशाला में ठहरा। तब राजा अपने मंत्रियों तथा नगर के भिक्षुओं को लेकर धर्मशाला में आचार्य को लिवा लाने पहुँचा और हज़ारों आदमियों के साथ, धूप जलाते और फूल बरसाते हुए, झंडे आदि से सुशोभित जुलूस के साथ उसे नगर में ले आया। आचार्य को देखकर लोगों ने उसे प्रणाम किया और पुष्प आदि वस्तुएँ भेंट कीं। उसके उपरान्त वे उसे हाथी पर चढ़ाकर राजधानी ले गये।

जयेन्द्र विहार

आचार्य अपने साथियों के साथ 'चे-ई-इन-तो-लो' (जयेन्द्र) नामक विहार में ठहराया गया। दूसरे दिन राजा ने उसे अपने महल में भिक्षा करने बुलाया। साथ ही साथ और सैकड़ों विद्वान भी निमंनित थे। भोजनोपरान्त राजा ने शास्त्रार्थ की आज्ञा दी और आचार्य से प्रार्थना की वे गूढ़ विषयों पर उपदेश करें।

आचार्य की दक्षता देख और यह सोच कि यह इतनी दूर से विद्या उर्पाजन की इच्छा से यहाँ आया है और इसके पास मूल-ग्रंथ नहीं है राजा ने उसे (आचार्य को) २० लेखक दिये कि ये ग्रंथों की प्रतिलिपि करें। उसने आचार्य की सेवा के लिए पाँच नौकर कर दिये और आज्ञा दी कि उसे सब वस्तुएँ राज-कोष के व्यय से मिलें।

उस विहार का स्थविर एक बड़ा महात्मा पुरुष था। वह धर्म के अनुशासनों का बड़ी कठोरता से पालन करता था। वह बड़ा विद्वान और धर्मशास्त्रों का पारंगत था। उसकी प्रतिभा अद्वितीय थी। उसकी अध्यात्मिक शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी थी। उसका स्वभाव सरल और दयालु था। उसने आचार्य को अपने यहाँ निमंत्रित किया और ठहराया। आचार्य उससे विनयपूर्वक धीरे-धीरे अपनी शंकाओं का समाधान करता और उससे अनेक शास्त्रों को, अध्ययन करने की इच्छा प्रकट करता।

अध्ययन

यह विद्वान ७० वर्ष का था और वह वृद्ध हो चला था परन्तु सुयेन-च्वाँग जैसे सत्पात्र शिष्य को पाकर उसने उसे पढ़ाना आरंभ किया। दिन के प्रथम दो पहर में वह उसे कोष पढ़ाता, पिछले दो पहर में वह उसे न्यायानुसार शास्त्र की शिक्षा देता। रात में प्रथम पहर के बाद वह हेतु विद्या का पाठ देता। इन अवसरों पर जनपद के सभी विद्वान वहाँ एकत्र होते। आचार्य अपने गुरु की बातें ठीक-ठीक समझता और विषय को हृदयंगम कर लेता। उसने कठिन से कठिन वाक्यों और उनके गूढ़ अर्थों को भली भाँति समझ लिया।

इस पर उसका गुरु बड़ा प्रसन्न हुआ और वह उपस्थित विद्वानों से कहने लगा, "इस चीनी श्रमण में अद्भुत स्मरण शक्ति है। इस उपस्थित समुदाय में इसकी समता करनेवाला कोई नहीं है। अपनी बुद्धि और विद्वत्ता में वह वसुबन्धु (आसंग बोधिसत्व) का भाई कहा जा सकता है। दुख का विषय है कि विदेशी होने के कारण वह हमारे महात्माओं और ऋषियों की महिमा में भाग नहीं पा सकता।"[१]

सभा में महायान के अनेक विद्वान थे। जैसे, 'पि-शू-तो-संग-हो'

---

[१] संभवतः तात्पर्य यह है कि वह हमारे देश के विद्वानों में नहीं गिना जा सकता। अनु०

(विशुद्ध सिंह), **'चि-न-फन-तु'** (जिनबन्धु) और सर्वास्तिवाद निकाय के **'सू-किय-मी-तो-लो'** (शुगतमित्र), **'पो-सू-मी-तो-लो'** (वसुमित्र) और महासंघिक सम्प्रदाय के **'सू-ली-ये-ति-पो'** (सूर्यदेव), **'चि-न-त-लो-तो'** (जिनत्राता)।

यह जनपद प्राचीन काल से विद्या के लिए प्रसिद्ध था। ये सब विद्वान बड़े धार्मिक, सचरित्र, अद्भुत प्रतिभासंपन्न और वामी थे। और देशों में भी अनेक विद्वान् थे पर उनकी तुलना इनसे नहीं हो सकती थी। इनमें अलौकिक प्रतिभा थी।

आचार्य से पहले-पहल मिलकर, गुरु के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा देखकर, वे लोग उसकी परीक्षा के लिये उससे कठिन प्रश्न करने से नहीं चूकते थे। पर आचार्य ने जब उनके प्रश्नों का निडर होकर, समुचित्त उत्तर दिया तो वे चुप हो गये; इसके पश्चात् वे आचार्य के सामने लज्जित रहते।

नाग-हृद

यह जनपद पहले एक **'नाग-हृद'** था। भगवान के निर्वाण के १० वर्ष बाद आनंद के एक शिष्य, मध्यान्तिक ने नाग-राज को सद्धर्म में दीक्षा दी। हृद छोड़ तब उसने ५०० संघाराम बनवाये और उसने भिक्षुओं और विद्वानों को वहाँ रहने के लिये निमंत्रित किया कि वे आकर नागों की पूजा स्वीकार करें।

कनिष्क का धर्मसंघ

इसके पश्चात् कनिष्क ने, जो गाँधार का राजा था, भगवान के निर्वाण के ४०० वर्ष बाद पर्श्विक के कहने पर धर्म-संघ आमंत्रित किया और त्रिपिटक के विद्वानों और पंच विद्याओं के ज्ञाताओं को आमंत्रित किया।[1]

---

[1] यहाँ मूल स्पष्ट नहीं है—बील।

इस प्रकार ४९९ विद्वान् एकत्र हुए। वसुमित्र को लेकर ५०० हुए। सब ने तीनों पिटकों का पारायण किया।

उन लोगों ने एक लाख श्लोकों की रचना की। यह सूत्रों की टीका थी। इसका नाम उपदेश शास्त्र पड़ा। एक लाख श्लोकों का दूसरा ग्रंथ विनय की व्याख्या के लिये विनय विभाषा शास्त्र नाम का बना। तीसरा एक लाख श्लोकों का अभिधर्म-विभाषा-शास्त्र था। इस प्रकार उन लोगों ने तीन लाख श्लोकों की रचना की जिनमें ९६० सहस्र शब्द (सूत्र) थे।

राजा ने आज्ञा दी कि ये श्लोक ताम्रपत्र पर खोदकर पत्थर के पेटारे में बन्द कर दिये जाँय और उन पर मुहर लगा दी जाय। एक स्तूप बनवाकर उसने इस पेटारे को उसी में रखा दिया और यक्षों को आज्ञा दी कि इसकी रक्षा करें।

इस प्रकार गूढ़ धर्म के सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ा।

प्रस्थान

यहाँ दो वर्ष रहकर शास्त्रों का अध्ययन कर, तीर्थ स्थानों की पूजाकर के आचार्य वहाँ से विदा हुआ। दक्षिण-पश्चिम दिशा में जाकर पर्वत और नदियों के पार करता हुआ, ७०० ली की यात्रा करके वह 'पुन-नू-त्सो' (पुनच) जनपद पहुँचा। यहाँ से ४०० ली पूर्व जाकर वह 'हो-लो-शी-पो-लो' (राजपुरी) पहुँचा। यहाँ से दक्षिण-पूर्व में पर्वत से उतरकर एक नदी पारकर, ७०० ली चलकर आचार्य 'छे-क्यि' (टक्क) जनपद पहुँचा।

'लान-पो' (लमगान) से यहाँ तक बीच के जनपदों के निवासी, आचार-विचार, परिधान, भाषा आदि में भारत से कुछ भिन्न हैं। ये सीमा प्रान्तों से अधिक मिलते हैं।

राजपुरी से चलकर, दो दिन में आचार्य ने अपने साथियों सहित चन्द्रभागा नदी पार किया और 'चे-ये-पु-लो' (जय-

जयपुर

पुर) नगर पहुँचा। यहाँ वे लोग एक विधर्मियों के मंदिर में रात को ठहरे। यह मंदिर नगर के पश्चिम द्वार के बाहर

था। इस समय इसमें २० व्यक्ति थे[1]। दो दिन पश्चात वे लोग 'चे-किय-लो' (शाकल) नगर पहुँचे। इस नगर में एक संघाराम था जहाँ १०० भिक्षु रहते थे। प्राचीन काल में वसुबंधु बोधिसत्व ने यहाँ शिंग-ते-लुन-शास्त्र की रचना की थी। इसके पास एक स्तूप है जो २०० फुट ऊँचा है। यह वही स्थान है जहाँ प्राचीन समय में विगत चार बुद्ध ने धर्म का उपदेश दिया था। उनके चरण चिन्हे बने थे।

पलाश वन में डाकू

यहाँ से चलकर सुयेन-च्वाँग एक बड़े 'पो-लो-चे' (पलाश) वन में पहुँचा जो 'न-लो-सँग-हो' (नरसिंह) नगर के पूर्व दिशा में था। इस वन में आचार्य को ५० डाकू मिले। इन डाकुओं ने आचार्य तथा उनके साथियों का सब कुछ छीन लिया और उन्हें तलवार लेकर खदेड़ दिया। ये लोग एक ताल की तरफ भागे। इस ताल पर काँटेदार लता फैली थी। आचार्य के साथ छिपे हुए श्रमणेरों ने आड़ से देखा कि ताल के दक्षिण ओर एक नाला था, जिसमें कई आदमी छिप सकते थे। आचार्य को चुपके से बतलाकर वे सब उसमें से होकर दक्षिण-पूर्व निकले और दो या तीन ली भागते हुए गये। बीच में एक ब्राह्मण (भारतीय) हल जोता हुआ मिला।

जब ब्राह्मण ने डाकुओं का समाचार सुना तो वह बहुत डरा और तुरन्त अपने बैलों को खोलकर, आचार्य को लेकर गाँव की ओर भागा। यहाँ उसने शंख और नगाड़े बजाकर लोगों को एकत्र किया। जब करीब अस्सी आदमी एकत्र हो गये तो सब, जो कुछ अस्त्र हाथ आया लेकर डाकुओं की खोज में दौड़े। डाकू उन्हें आते देख जंगल में भागकर जा छिपे।

---

[1] मूल स्पष्ट नहीं है। संभव है इससे तात्पर्य सुयेन-च्वाँग के साथियों से हो।—बील

आचार्य तुरन्त ताल की ओर गया और उसने उन लोगों को बंधनमुक्त किया, जिन्हें डाकुओं ने बाँध रखा था। सब लोगों ने उन्हें वस्त्रादि देकर गाँव में ले जाकर ठहराया। और लोग रो-गा रहे थे, पर आचार्य हँस रहा था। इस पर उसके साथियों ने पूछा, "डाकुओं ने हमारा सब कुछ लूट लिया है; बस जान बच गई है। हमारे पास अब क्या है; हम तो बड़ी विपत्ति में हैं। अपनी दुर्गति स्मरण कर हमें बड़ा दुख होता है। क्या कारण है कि आप हम लोगों के दुख में साथ नहीं देते और उलटे हँस रहे हैं?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "मनुष्य के लिये सब से बड़ी बात तो जीवन है। यदि प्राण बचा रहा तो और किसकी चिंता। हमारे यहाँ पुस्तकों में लिखा है कि, "लोक-परलोक का सब से बड़ा सुख जीवन है। जब तक जीना तब तक मस्त रहना। एक आध कपड़ा, एक दो वस्तुएँ (गईं) तो इनकी क्या चिंता करनी।"

यह सुनकर उनके साथियों को ज्ञान हुआ कि उपरी लहर से नदी के भीतरी भाग में उथल-पुथल नहीं होता। आचार्य में ऐसा ही गुण था।

दूसरे दिन लोग 'छे-किय' (टक्क) जनपद की पूर्वी सीमा पर पहुँचे और एक बड़े नगर में प्रविष्ट हुये।[1]

टक्क

मार्ग के उत्तर ओर, नगर के पश्चिम, एक बड़ा 'अन-लो' (आम्र) वन है, इस आम्र वन में एक ७००[2] वर्ष का ब्राह्मण रहता था, जो देखने में ३० वर्ष का लगता था। उसके हाथ-पैर ठीक थे। उसकी बुद्धि अलौकिक थी और उसकी तर्क-शक्ति अपर्व उर्वरा थी। उसने 'चँग' और 'पिह' (प्राणयमूल और शतशास्त्र) शास्त्रों को हृदयंगम किया था। वेद और अन्य ग्रंथों का भी वह अच्छा ज्ञाता था। उसके दो शिष्य थे जो १०० वर्ष के थे। जब वह आचार्य

---

[1]संभवतः यह 'लाहौर' नगर था। [2]संभवतः १७० वर्ष।

से मिला तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उसे अपने यहाँ ठहराया। डाकुओं द्वारा लुट जाने का हाल सुनकर उसने अपने एक भृत्य को नगर में रहनेवाले बौद्ध लोगों को समाचार देने भेजा और कहलाया कि आचार्य के लिये भोजन आदि का प्रबंध करें। उस नगर में कई सहस्र घर थे। कुछ ही लोग सद्धर्मी थे। अधिकतर विधर्मी (अबौद्ध-वैदिक) थे।

काश्मीर में रहते हुए आचार्य की कीर्ति चारों ओर दूर तक फैल चुकी थी। अड़ोस-पड़ोस के सभी जनपद उसका नाम सुन चुके थे। इस लिये ब्राह्मण के दूत आस-पास के नगर में कहते फिरे—"चीन का भिक्षु हमारे यहाँ आया है। उसका सब चीज़-वस्त्र डाकुओं ने लूट लिया है। इस लिए जो लोग मेरा संदेश सुने उन्हें उसकी सहायता करने का पुण्य अवसर न खोना चाहिए।"

यह समाचार सुनकर भेद-भाव छोड़कर सब धर्मवाले, लगभग ३०० प्रतिष्ठित व्यक्ति वस्त्र और खाने-पीने की वस्तुएँ लेकर आचार्य को देने आये और बड़ी भक्ति और विनय से उसके सामने सब वस्तुएँ रखीं। आचार्य ने कुछ मंत्र पढ़कर उन्हें इस जन्म के कर्मों का अच्छा और बुरा फल समझाने लगा।[1] यह सुनकर सब को सच्चा ज्ञान हुआ और वे सब अपना मिथ्या ज्ञान छोड़कर सद्धर्म की अनुयायी बने। इस प्रकार वे प्रसन्न होकर आचार्य से बात-चीत कर घर लौटे।

वृद्ध ब्राह्मण इस पर बड़ा प्रसन्न हुआ। आचार्य ने सूती वस्त्र तो अपने साथियों को बाँट दिया। प्रत्येक को परिधान के लिये कई थान कपड़े मिले। इस पर भी कुछ बच रहा; तो आचार्य ने पाँच थान ब्राह्मण को अधिक दिये।

यहाँ एक मास रहकर आचार्य ने 'पेह-लुन' (शत-शास्त्र) और

---

[1] तात्पर्य्य यह है कि उन्हें आशीर्वाद दिया। अनु॰

'क्वा-पेह-लुन' (शत-शास्त्र-वैपुल्यम्) का अध्ययन किया। इस ग्रंथ का रचयिता (देव बोधिसत्व) नागार्जुन का शिष्य था। नागार्जुन स्वयं अपने गुरु से अध्ययन कर उन की बड़ी स्पष्टता से व्याख्या करता था।

चिनापति

यहाँ से पूर्व दिशा में ५०० ली जाकर आचार्य 'चि-ना-पो-त्ती' (चीनापति) जनपद पहुँचा और 'तु-शे-शा-ना' (तमसावन ?) विहार में ठहरा। यहाँ एक विख्यात विद्वान 'वि-नी-तो-पोह-ला-पो' (विनीतप्रभ) नामक रहता था। यह त्रिपिटक का प्रख्यात विद्वान था। इसने स्वयं पंचस्कंध शास्त्र और विद्यामात्रसिद्धित्रिदश-शास्त्र की टीका लिखी थी।

इस हेतु आचार्य यहाँ १४ मास ठहर गया और यहाँ रहकर उसने अभिधर्म-शास्त्र, अभिधर्म-प्रकरण-शासन-शास्त्र, न्याय-द्वार तर्क-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया।

नगर के दक्षिण-पूर्व ५० ली पर 'तमसा वन संघाराम' है। यहाँ ३०० भिक्षु हैं जो सर्वास्तिवाद निकाय के अनुयायी हैं।

भद्रकल्प के सहस्र बोधिसत्व यहाँ मनुष्यों और देवताओं के धर्म का उपदेश करेंगे।

बोधिसत्व के निर्वाण के ३००वें वर्ष पीछे यहाँ कात्यायन नामक विद्वान रहता था जिसने ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना की थी।

जालंधर

यहाँ से उत्तर-पूर्व १४० या १५० ली जाकर लोग 'जालंधर' जनपद पहुँचे। यहाँ आचार्य नगराधान विहार में ठहरा। यहाँ चन्द्रवर्म्मा नामक विद्वान रहता था। यह त्रिपिटक का विद्वान था। यहाँ चार मास रहकर आचार्य ने प्रकरण-पद-विभाषा-शास्त्र का अध्ययन किया। यहाँ से उत्तर-पूर्व ऊँचे पहाड़ों के दर्रों को पारकर ७०० ली जाकर वह 'कुलूत' जनपद पहुँचा।

'कुलुत' से ५०० ली दक्षिण एक पर्वत और नदी को पारकर ये लोग 'शे-तो-लू-लु' (शतद्रु) जनपद पहुँचे।

इससे ८०० ली दक्षिण-पश्चिम यात्रा करके 'पो- -लो' (परियात्र) जनपद मिला। यहाँ से पूर्व ५०० ली चलकर आचार्य 'मो-तु-लो' (मथुरा) जनपद पहुँचा।

मथुरा

यहाँ तथागत शाक्य मुनि तथा उनके शिष्यों जैसे—सारिपुत्र, मुद्गलायन, पूर्णमैत्रियानी-पुत्र, उपाली, आनन्द, राहुल और मंजुश्री के धातु स्तूप हैं।

प्रत्येक वर्ष यहाँ उत्सव होता है और भिन्न-भिन्न संप्रदायों के भिक्षु एकत्र होकर अपने-अपने संप्रदाय के स्तूपों की पूजा करते हैं। अभिधर्म के अनुयायी सारिपुत्र के स्तूप की, सूत्रों के अनुयायी पूर्णमैत्रियानी-पुत्र के स्तूप की, विनय वाले उपाली के स्तूप की, भिक्षुणियाँ आनन्द के स्तूप की, श्रमणेर राहुल के स्तूप की और महायान के अनुयायी बोधिसत्व के स्तूप की पूजा करते हैं।

नगर के पाँच या छः ली पर एक पहाड़ी संघाराम है जो उपगुप्त का स्थापित किया हुआ है। यहाँ भगवान के नख और केश हैं।

संघाराम के उत्तर पहाड़ में एक गुफा थी जो बीस फुट ऊँची और ३० फुट चौड़ी थी। इसमें बाँस की चार इंच चौड़ी बहुत सी पट्टियाँ एकत्रित थीं। कहते हैं कि आचार्य उपगुप्त जब किसी दंपित्त को उपदेश देकर अर्हत पद को प्राप्त कराते थे तो वह उस गुफा में एक बाँस की पट्टी रख देता था। जो अकेले अर्हत पद को प्राप्त होता था उसका लेखा नहीं रहता था।

यहाँ से उत्तर-पूर्व ५०० ली चलकर 'स-ता-नी-सी-फा-लो' (स्थानेश्वर) मिला। यहाँ से आगे पूर्व यात्रा कर ४०० ली पर 'स्रु-ले-ना' (स्रुघ्न) पहुँचे।

स्रुघ्न

इस जनपद की पूर्वी सीमा पर गंगा नदी, उत्तर में पर्वत माला है। इसके बीच में यमुना नदी बहती है।

इस नदी से ८०० ली पूर्व जाकर गंगा के उद्गम पर पहुँचे। इसका उद्गम तीन या चार ली चौड़ाई में था। यह नदी दक्षिण-पूर्व दिशा में बहती है और जहाँ समुद्र में मिलती है वहाँ दस ली चौड़ाई में है। इसका जल मीठा और सुस्वादु है। इसके जल के साथ बालू के महीन कण बहते रहते हैं। यहाँ (भारत) के ग्रंथों में इसका नाम 'पुण्यतोया' लिखा है। जो इसमें स्नान करते हैं उनका पाप धुल जाता है। जो इसके जल को पीते या कुल्ली करते हैं वे दुख-दरिद्र से मुक्त हो जाते हैं और मरने पर वे स्वर्ग जाते हैं और सुख भोग करते हैं।

इस हेतु साधारण लोग (सब) स्त्री-पुरुष बराबर तट पर एकत्र रहते हैं। परन्तु यह इस प्रदेश के विधर्मियों का विश्वास है। यह सत्य नहीं है। पीछे से जब तथागत ने उन्हें सद्धर्म की शिक्षा दी तब से यह मिथ्या विश्वास उठने लगा।

यहाँ इस जनपद में जयगुप्त नाम का एक विद्वान रहता था जो त्रिपिटक का ज्ञाता था। आचार्य सुयेन-च्वाँग ने शरद से लेकर आधे बसंत तक यहाँ रहकर उससे सौत्रांतिक निकाय की विभाषा का अध्ययन किया।

इसके पश्चात आचार्य नदी के पूर्वतट पर पहुँचकर 'मतिपुर' जनपद में प्रविष्ट हुआ। इस देश का राजा शूद्र था। यहाँ दस संघाराम और उसमें रहनेवाले ८०० भिक्षु थे। ये लोग सर्वास्तिवाद निकाय के अनुसार हीनयान का अध्ययन करते थे। नगर के दक्षिण ४ या ५ ली पर एक छोटा संघाराम था जिसमें ५० भिक्षु थे। यहीं गुणप्रभ ने प्राचीन समय में विन-चिन तथा अन्य शास्त्रों की रचना की थी। कुल मिलाकर १०० शास्त्र रहे होंगे। गुणप्रभ वास्तव में पर्वत का निवासी था और महायान का अनुयायी था। पीछे से वह हीनयान का भक्त हो गया।

मतिपुर

जब अर्हत देवसेन तुषित स्वर्ग से लौटे, तो गुणप्रभ ने अपनी शंकाओं का समाधान करने के हेतु मैत्रेय से मिलने की इच्छा प्रकट की और उसने देवसेन से कहा कि, "अपनी दिव्य शक्ति से मुझे स्वर्ग भेज दो।" वहाँ पहुँचकर उसने मैत्रेय को देखा और उन्हें प्रणाम किया पर झुका नहीं। उसने सोचा, "मैं स्वयं भिक्षु हूँ। मैत्रेय यहाँ देवयोनि में हैं और गृहस्थ हैं तो इसलिये मुझे उनके सामने झुकना उचित नहीं।"

इस प्रकार वह तीन बार वहाँ गया और लौट आया परन्तु उसने प्राणिपात नहीं किया। उसके अहंकार के कारण उसकी शंकाओं का समाधान न हो सका।

गुणप्रभ संघाराम के दक्षिण ३ या ४ ली पर एक संघाराम था जिसमें हीनयान के २०० भिक्षु थे। यहीं आचार्य संघभद्र का देहावसान हुआ था। संघभद्र काशमीर निवासी था। वह बड़ा बुद्धिमान और विद्वान था। सर्वास्तिवाद निकाय की विभाषा का वह प्राकण्ड ज्ञाता था।

वसुबंधु भी अपने विषय का अच्छा विद्वान था। उसने विभाषा के अनुयायियों के खण्डन के निमित्त अभिधर्म कोषशास्त्र लिखा था। भारत के सभी विद्वान उसकी गंभीर तर्क-शक्ति तथा योजपूर्ण लेखन-शैली की सराहना करते थे। देवता राक्षस सब उसके सिद्धान्तों को पढ़ते और मानते थे।

संघभद्र का आगमन सुन वह अधीर हो उठा। १२ वर्ष मनन करने के पश्चात उसने २५,००० श्लोकों का 'कोश-करिका-शास्त्र' लिखा जिसमें अस्सी सहस्र शब्द (सूत्र) थे। इसे समाप्त कर वह वसुबंधु से मिलकर शास्त्रार्थ करना चाहता था। परन्तु उसकी इच्छा मृत्यु के कारण पूर्ण न हुई। वसुबंधु ने उसकी मृत्यु के पश्चात इसके ग्रंथ को देखा, प्रशंसा की; और कहने लगा, "इसमें विचार और तर्क विभाषा संप्रदाय वालों से कम नहीं हैं। परन्तु उसके सिद्धान्त मेरे जैसे हैं अतः

इसका नाम न्यायानुसार शास्त्र होना चाहिये।" उसकी अनुमति के अनुसार वैसा ही हुआ।

संघभद्र की मृत्यु के पश्चात लोगों ने आम्रवाटिका में उसका स्तूप बनवाया। आचार्य ने इसे देखा। इस वाटिका के पास एक और स्तूप था जो 'विमल मित्र' शास्त्री का था। यह भी काश्मीर का निवासी था। यह सर्वास्तिवाद निकाय का अनुयायी था। इसने पाँचों द्वीपों में भ्रमण किया था। यह त्रिपिटक का बड़ा विद्वान था।

अपने देश लौटते समय वह संघभद्र के स्तूप के पास से होकर निकला। उसे यह जानकर बड़ा दुख हुआ कि उसका आचार्य अपने जीवन काल में अपने सिद्धान्तों का प्रचार न कर सका। यह सोचकर उसने प्रतिज्ञा की कि वह स्वयं एक ग्रंथ लिखेगा जिससे कि महायान के सिद्धांत छिन्न-भिन्न हो जावेंगे और वसुबन्धु का नाम लुप्त हो जायगा। उसने सोचा कि इस प्रकार उसके गुरु संघभद्र का नाम अमर हो जायगा।

यह कहते ही उसकी बुद्धि बे-ठिकाने होगई और उसका पेट और [illegible] निकल आई। उसका रक्त फूट निकला। यह सोचकर कि यह विपत्ति उसके विरुद्ध मत के कारण हुई है, उसने अपनी रचनाओं को फाड़ डाला और अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि कभी महायान की बुराई न करें। उसकी मृत्यु हो गई। जहाँ वह मरा पृथ्वी फट गई। और वहाँ अब भी गर्त वर्तमान था।

इस नगर में मित्रसेन नामक ८० वर्ष का एक भिक्षु था। वह गुणप्रभ का शिष्य था और त्रिपिटक का विद्वान था। आचार्य हुएन-च्वांग ने उसके यहाँ आधे बसंत और पूरे ग्रीष्म ऋतु तक तत्त्वसत्य-शास्त्र, अभिधर्म-ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया।

यहाँ से उत्तर ३०० ली जाकर वे लोग 'पो-लो हो-मो-पु-लो'

ब्रह्मपुर

(ब्रह्मपुर) जनपद पहुँचे। यहाँ से दक्षिण-पूर्व ४०० ली की यात्रा कर 'ही-ची-त-लो' (अहिच्छेत्र) और यहाँ से दक्षिण २०० ली चलकर गंगा नदी पारकर दक्षिण-पश्चिम जाकर आचार्य **'वि-लो-ना-न'** (वीरासन) जनपद पहुँचा। यहाँ से पूर्व २०० ली जाकर **'की-पी-थ'** (कपिथ) जनपद मिला।

कपिथ

नगर के २० ली पूर्व एक संघाराम मिला जिसके प्रांगण में तीन सुन्दर सोपान बने थे। ये एक दूसरे से सटे हुए उत्तर-दक्षिण थे। इनका मुख पूर्व की ओर था। इन में से एक से बोधिसत्व भगवान अपनी माता माया को उपदेश देने के लिये त्रयत्रिंश स्वर्ग से उतरे थे। बीच का सोपान स्वर्ण का, बाईं ओर का स्फाटिक का और दाहिनी ओर का रजत का था। सद्धर्म-गृह से चलकर देवताओं को साथ लेकर भगवान बीच की सीढ़ी से उतरे थे। महाब्राह्म हाथ में चँवर लिये, दाहिनी, चाँदी वाली सीढ़ी से उतरे और शक्र (इंद्र) हाथ में बहुमूल्य क्षत्र लिये हुये बाईं सीढी से उतरे, जो स्फटिक की थी। इस समय १,००,००० देव और बड़े-बड़े बोधिसत्व, भगवान के साथ थे।

कई शताब्दियों तक ये सोपान जैसे-के-तैसे रहे पर बाद में नष्ट-भ्रष्ट (लुप्त) हो गये। पीछे से राजा लोगों ने भक्तिपूर्वक उनका जीर्णोद्धार किया और ईटों और पत्थरों से उन्हें बनवाया और उन्हें बहुमूल्य पत्थरों से अलंकृत करवाया। ये सोपान ७० फुट ऊँचे हैं। इन पर एक विहार बना है जिसमें भगवान की पत्थर की मूर्त्ति है। इस प्रतिमा के दाहिने-बाएँ ब्रह्मा और इन्द्र की प्रतिमाएँ हैं। वे ऐसी मालूम होती हैं मानो सजीव हों। इन सोपानों की बगल में एक ७० फुट ऊँचा अशोक राजा का प्रस्तर-स्तंभ है। इसी के निकट एक चबूतरा ५० पग लम्बा और ७ फुट ऊँचा है। यह पत्थर का बना है। यहीं प्राचीन समय में भगवान बुद्ध चले-फिरे थे।

यहाँ (कपिथ) से चलकर आचार्य उत्तर-पश्चिम दिशा में २०० ली की यात्रा कर 'कि-जो-कि-यो-क्वो' (कान्य कुब्ज या कन्नौज) पहुँचा ।

कान्यकुब्ज

यह जनपद ४००० ली परिधि में था। इस के प्रधान नगर के पश्चिम ओर गंगा नदी है। नगर २० ली लंबा और पाँच या छः ली चौड़ा है।

यहाँ १०० के लगभग संघाराम थे जिनमें १०,००० भिक्षु रहते थे। ये दोनों 'यानों' का अध्ययन करते थे। यहाँ का राजा वैश्य राजपूत है। उसका नाम हर्षवर्धन है। उसके पिता का नाम प्रभाकरवर्धन था। उसका बड़ा भाई राज्यवर्धन था। हर्षवर्धन, जो इस समय राजा था, धर्मात्मा और देशभक्त है। सब लोग उसकी प्रसंशा करते थे और उसका गुण गान करते फिरते थे।

हर्षवर्धन

राज्यवर्धन के शासनकाल में 'कर्ण सुवर्ण' का राजा शशांक राज्यवर्धन से ईर्षा करता था और उसने उसे मारने के लिये षट्यंत्र रचा और राज्यवर्धन को मरवा डाला।

तब प्रधान मंत्री 'भानी' (मण्डी) और उसके आधीन आमात्य यह देखकर बड़े दुखी हुये और उन लोगों ने उसके छोटे भाई शिलादित्य को गद्दी पर बैठाना निश्चय किया। उसका राजसी रूप गुण और शील सभी मानते थे। वह योद्धा भी अच्छा था। उसके गुणों की चर्चा दोनों लोकों में उथल-पुथल मचाये थी। उसके न्याय की प्रसंशा मनुष्य देवता दोनों करते थे। वह इस योग्य था कि भाई का बदला ले सके और भारत का सम्राट बने। उसकी विभूति चारों ओर फैल गई और उसकी प्रजा उसके गुणों का बड़ा मान करने लगी। राज्य स्थापित होने पर लोगों को सुख-शान्ति मिली।

इसके बाद राजा ने लड़ाई बन्द कर दी और शास्त्रागार में अस्त्र, शस्त्रादि को एकत्र करवा दिया। इस पश्चात् उसने धार्मिक

जीवन व्यतीत करना आरंभ किया और उसने हिंसा का निषेध करा दिया। उसने स्वयं आदर्श उपस्थित करने के लिए अपने परिजनों को माँस भक्षण का निषेध कर दिया। उससे संघाराम बनवाये, जिसमें लोगों के उपासनार्थ धार्मिक चिन्ह थे।

वर्ष में तीन सप्ताह वह भिक्षु संघ को भोजन देता था। हर पाँचवें वर्ष वह महामोक्ष परिषद् करवाता था और अपने कोष का धन दान में दे डालता था। उसके शुभ कर्मों का वर्णन करना मानों कुमार 'सुदान'[1] का वर्णन करना होगा।

नगर के उत्तर-पूर्व में एक २०० फुट उँचा स्तूप है। दक्षिण-पूर्व दिशा में गंगा नदी के दक्षिण एक २०० फुट का ऊँचा स्तूप है। ये दोनों अशोक राजा के बनवाये हैं। ये उस स्थान में हैं जहाँ भगवान ने धर्म का उपदेश दिया था।

आचार्य जब जनपद में पहुँचा तो वह भद्र विहार में जाकर ठहरा। यहाँ तीन मास रहकर सुयेन-च्वांग ने वीरसेन (वीर्य्यसेन) त्रिपिटकाचार्य से बुद्धदासकृत विभाषा का अध्ययन किया। इसे वर्म विभाषा-व्याकरण कहते हैं।

[1] सुदान या कुमार विस्वंतर जिसकी कथा वेसंतर जातक में है।

अध्याय ३

अयोध्या से हिरण्यपर्वत

कान्यकुब्ज से चलकर हम लोग दक्षिण-पूर्व की दिशा में ६०० ली की यात्रा कर गंगा नदी पारकर दक्षिण ओर

अ-यु-से

'ओ-यू-तो' (अयोध्या ?) जनपद पहुँचे। यहाँ १०० के लगभग विहार हैं जिनमें कई सहस्त्र भिक्षु हैं। ये महायान और हीनयान दोनों का अध्ययन करते हैं।

राजधानी में एक पुराना संघाराम था। यहाँ वसुबंधु बोधिसत्व ने महायान और हीनयान पर शास्त्र लिखे थे और धर्म का उपदेश दिया था। नगर के उत्तर-पश्चिम चार-पाँच ली पर गंगा के किनारे एक संघाराम है जिसमें २०० फुट ऊँचा स्तूप था। यह अशोक ने उस स्थान पर निर्माण करवाया था जहाँ भगवान बुद्ध ने तीन मास तक धर्मोपदेश किया था। स्तूप के पास एक स्थान है जहाँ प्राचीन काल में विगत चारों बुद्ध चले-फिरे थे।

नगर के दक्षिण-पूर्व चार या पाँच ली पर एक बड़ा संघाराम है। यहीं असंघ बोधिसत्व ने धर्म का प्रचार किया था। बोधिसत्व रात्रि में तुषित स्वर्ग गये और वहाँ मैत्रेय बोधिसत्व से योग-शास्त्र, अलंकार-महायान-शास्त्र, और मध्यान्त विभंग-शास्त्र की शिक्षा ली और दूसरे दिन स्वर्ग से आकर उन्होंने संघ को धर्म का उपदेश दिया।

असंघ, जिन्हें 'वू-यू' भी कहते हैं, गांधार के रहनेवाले थे। इनका जन्म निर्वाण[1] के पश्चात् प्रथम कल्प के मध्य में हुआ था। ये महिशा-

---

[1] निर्वाण से ९०० वर्ष बाद के मध्य बौद्धयुग में.

सक निकाय के अनुयायी थे। पीछे से महायान संप्रदाय में हो गये थे। उनके भाई बसुबंधु सर्वास्तिवाद निकाय के अनुयायी थे। पीछे से महायान में विश्वास करने लगे थे। ये दोनों भाई बड़े विद्वान, धार्मिक और प्रतिभासंपन्न थे। असंघ शास्त्र रचना में प्रवीण थे और इन्हों ने अनेक शास्त्रों की रचना की थी जो महायान निकाय के ग्रंथों पर भाष्य या टीका थे। उस समय असंघ भारत के प्रसिद्ध शास्त्रकार थे। उन्होंने महायान-संपारिग्रह-शास्त्र, प्रकरणार्यवाच्य-शास्त्र कारिका, अभिधर्म शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का निर्माण किया था।

डाकू

आचार्य 'अयोध्या' में तीर्थ स्थानों का दर्शन पूजन कर वहाँ से गंगा से होकर पूर्व दिशा में नाव पर चला। उसके साथ ८० के लगभग और यात्री भी थे। वह 'ओ-ये-मु-खो' (हय-मुख) जनपद पहुँचना चाहता था। १०० ली जाने पर नदी के दोनों किनारों पर घने अशोक वृक्षों का जंगल मिला। इन वृक्षों की आड़ में डाकुओं की दस नावें छिपी थीं। एकाएक वे डाँड़ मारते हुए नदी की बीच धारा में आ पहुँचे। नाव पर के यात्रियों में कुछ डर के मारे नदी में कूद पड़े। डाकू नाव को घसीट कर तट की ओर ले गये। तब उन सब ने यात्रियों को अपने वस्त्रादि उतारने की आज्ञा दी और उनकी तलासी ली और उनके रुपये पैसे ले लिये।

ये डाकू दुर्गा के उपासक थे जो देवी कहलाती हैं। हर साल शरद ऋतु में ये एक सुन्दर पुरुष को ढूँढ़ कर देवी को बलि चढ़ाते हैं जिससे कि उन्हें भविष्य में लाभ हो। आचार्य को देखकर वे प्रसन्न हुए कि बलिदान के लिये योग्य पात्र मिला। आचार्य देखने में सुन्दर, सुगठित शरीर वाला था। डाकुओं ने कहा, "हमारे पूजा के दिन निकले जा रहे हैं क्योंकि कोई सुपात्र नहीं मिलता था। अब यह योग्य श्रमण मिला है। लाओ इसे बलि चढ़ा दें। निश्चय हमारा कल्याण होगा।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "यदि मेरा तुच्छ शरीर देवी के योग है तो निश्चय मुझे बलि चढ़ा दो। मुझे भी तनिक हिचक नहीं है, परन्तु मैं इतनी दूर यात्रा कर के इस लिए आया था कि बोधि वृक्ष और गृद्धकूट पर्वत के दर्शन करूँगा और ग्रन्थों का अध्ययन करूँगा। वह काम अभी पूरा नहीं हुआ है। इस लिये तुम लोग दया करके मुझे छोड़ दो नहीं तो तुम्हारे ऊपर कहीं परमात्मा कुपित न हो।"

उसके साथी यात्रियों ने भी छोड़ने के पक्ष में कहा। कुछ लोग तो उसके बदले अपनी जान देने को तय्यार थे। परन्तु डाकूओं ने न माना।

डाकुओं के नायक ने अपने साथियों को आज्ञा दी कि "एक फूलों से लदे घने जंगल में वेदी तैयार करो जहाँ पूजा की जायगी।" उसने दो डाकुओं को आज्ञा दी कि सुयेन-च्वाँग को बाँधकर वेदी पर खड़ा करें और नंगी तलवार (छुरा) लेकर तैयार रहें। वे मारने को तैयार थे पर आचार्य निश्चिंत शान्त बैठा था। इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

जब बचने का कोई उपाय न रहा तो आचार्य ने डाकुओं से कहा कि, 'थोड़ी देर के लिये मुझे एकान्त में छोड़ दो जिसमें कि मैं शान्तिपूर्वक मृत्यु का सामना कर सकूँ। आचार्य एकाग्रचित हो तुषित स्वर्ग का ध्यान करने लगा और बोधिसत्व मैत्रेय में अपना मन लगाकर प्रार्थना करने लगा कि "उसी स्थान (तुषित स्वर्ग) में जन्म लेकर मैं बोधिसत्व के दर्शन कर उनसे योगाचार्य भूमिशास्त्र की शिक्षा ग्रहण करूँ और उनका उपदेश सुनूँ।" उसने प्रार्थना की, "बोधिज्ञान प्राप्त कर मैं फिर इस संसार में जन्म लूँ और इन लोगों को उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाऊँ और इस प्रकार धर्म का प्रचार कर संसार को शान्ति प्रदान कर सकूँ,"

आचार्य ने दस लोकों के बोधिसत्व का ध्यान कर, अपना मन एकाग्र कर, निश्चल मुद्रा में बैठ कर, अपना ध्यान मैत्रेय बोधिसत्व में लगाया। उसे जान पड़ा मानो वह सुमेरु पर पहुँचा है और पहले,

दूसरे, तीसरे स्वर्ग से होता हुआ वह तुषित स्वर्ग में पहुँचा है और मैत्रेय के सामने उपस्थित हुआ है। बड़ा सुन्दर सभा-मण्डप है। चारों ओर देवगण विराजमान हैं। यह देख कर इसका शरीर और मन आनंद में मग्न हो गया और वह वलिदान और डाकुओं की बात भूल गया। उसके साथी रो-पीट रहे थे। इसी समय चारों ओर से काली (लंगड़ी) आँधी आई। पेड़ उखड़ने लगे, धूल के भवंडर चलने लगे, नदी में उत्तुंग लहरों पर नावें डगमगाने लगीं। डाकू लोग बड़े घबराये और आचार्य के साथियों से उसका परिचय पूछने लगे। उन लोगों ने उत्तर दिया, "ये महा-चीन देश के श्रमण हैं। ये बड़े विद्वान हैं और धर्म की खोज में यहाँ आये हैं। यदि आप लोग इन्हें मारेंगे तो आप पर बड़ा पाप पड़ेगा। देखिये यह आँधी-पानी, इस दैवी प्रकोप के लक्षण हैं। आप लोग शीघ्र पश्चाताप कीजिये।" डाकू लोग डर के मारे पछताने लगे। और उन लोगों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। एक डाकू के अंग से, संयोग से, आचार्य के हाथ का स्पर्श हो गया। आचार्य की समाधि टूट गई और उसने पूछा, "क्या वलिदान का समय आ गया?" डाकुओं ने उत्तर दिया, "भगवन्! हम लोग आप को छू नहीं सकते। हमें अपने कर्मों का पछितावा है। आप कृपाकर क्षमा करें।" आचार्य ने उनकी पूजा ग्रहण की और उनके पाप का प्रायश्चित कराया और धर्म का उन्हें उपदेश दिया। आचार्य ने उन्हें अवीची[1] नर्क का हाल सुनाया जहाँ हत्या, लूट, धर्मविरुद्ध यज्ञादि करनेवाले पापी जाते हैं। उसने कहा, "तुम लोग इस क्षणभंगुर शरीर के लिए क्यों असंख्य कल्प तक नर्क की यातना मोल लेते हो?"

डाकू लोग लज्जित हुए और पछता कर कहने लगे, "हम लोग मूर्ख थे और अज्ञानवश निषिद्ध कर्म कर रहे थे। यदि आप के दर्शन

---

[1] बौद्धमत के अनुसार सब से निम्न नर्क।

होते तो हमें कौन सन्मार्ग पर लगता ? हम लोग आज से अपना कुकर्म छोड़ते हैं। आप इसके साक्षी हों।"

इसके पश्चात वे एक दूसरे को अच्छा काम करने की प्रेरणा करने लगे और उन सब ने सारे लूट-मार करने के हथियार एकत्र कर पानी में डाल दिये। जिसका जो कुछ लूटा था, उसे उन्हें लौटा दिया और स्वयं गृहस्थों के पंचशील को ग्रहण किया।

आँधी-पानी शान्त हो गया; डाकू लोग प्रसन्न होकर आचार्य को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने लगे। आचार्य के साथी आश्चर्य और आनंद से फूले न समाये। सब लोग यह समाचार सुन कर कहने लगे, "यदि धर्म जिज्ञासा की इतना उत्कट संकल्प न होता तो ऐसा कभी सम्भव न था !"

इस स्थान से पूर्व ३०० ली जाकर गंगा पार कर उत्तर ओर उतर कर आचार्य अपने साथियों सहित 'ओ-ये-मु-खी' (हयमुख) पहुँचा।

प्रयाग

यहाँ से दक्षिण-पूर्व ७०० ली जाकर गंगा पारकर दक्षिण तट पर प्रयाग जनपद मिला। यह जमुना नदी के उत्तर तट पर है।

नगर के दक्षिण-पश्चिम ओर एक 'चंपक वन' है। उसमें अशोक राजा का एक स्तूप था। इसके निकट एक संघाराम हैं। यहीं भगवान ने विधर्मियों को परास्त किया था। यहीं पर देव बोधिसत्व ने शत-शास्त्र का विषद संस्करण लिखा था और हीनयान के विधर्मियों को परास्त किया था[1]। नगर के पूर्व दिशा में वह स्थान है जहाँ दोनों नदियें मिलती हैं। सङ्गम के पश्चिम समतल भूमि है जो १४ या १५ ली परिधि में होगी। भूमि समतल और साफ़ है। प्राचीन काल से बड़े-बड़े

---

[1] यहाँ स्पष्ट नहीं है। संभवतः तात्पर्य विधर्मियों से है—हीनयान से नहीं। 'हीनयान के विधर्मी'—यह वाक्य स्पष्ट नहीं है। अनु०

राजे, महराजे, सेठ-साहूकार यहाँ पर दान करने आया करते हैं। इसी से इसको दान-क्षेत्र कहते हैं। अभी थोड़े दिन हुए शिलादित्य राजा ने प्राचीन प्रथा के अनुसार यहाँ ७५ दिनों में पाँच वर्ष का एकत्रित धन दान में दिया था। बुद्ध, धर्म, संघ से लेकर दरिद्र अनाथ तक उसके दान के पात्र हुए थे।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक बड़े जंगल में होकर यात्रा करनी पड़ी। यहाँ मार्ग में हाथी और हिंसक पशु मिलते थे। ५०० ली की यात्राकर आचार्य **'किया-शंग-बी'** (कौशाम्बी) पहुँचा।

कौशाम्बी

यहाँ दस संघाराम थे। इनमें ३०० भिक्षु रहते थे। नगर के भीतर एक खण्डहर है। इसमें एक बड़ा-सा विहार था जो ६० फुट ऊँचा था। इसमें भगवान बुद्ध की एक ६० फुट ऊँची चन्दन की प्रतिमा थी। इसके ऊपर पत्थर का छत्र था। यह प्रतिमा महाराज उदयन की बनवाई है।

प्राचीनकाल में तथागत वर्षावास में त्रयत्रिंश स्वर्ग में अपनी माता को उपदेश देने के निमित्त रहा करते थे। राजा इनका ध्यान किया करता था। उसने मुद्गलायन से प्रार्थना की कि एक शिल्पिन को स्वर्ग भेज दें। जो जाकर स्वयं भगवान के शुभ चिन्हों को देख आवे जिसमें वह आकर उनकी एक चन्दन की प्रतिमा बना सके।

जब भगवान स्वर्ग से लौटे तो इस प्रतिमा ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया था।

इसके दक्षिण गोशीर सेठ के मकान का खण्डहर है। नगर के पास ही एक पुराना संघाराम है जो इस सेठ (गोशीर) की वाटिका में बना था।[1] इसमें एक स्तूप है जो २०० फुट ऊँचा है और अशोक

---

[1] तात्पर्य यह है कि कभी यहाँ गोशीर की वाटिका थी। पीछे से संघाराम बना।

का बनवाया है। इसके दक्षिण-पूर्व एक दो मंजिला भवन है जहाँ वसुबंधु ने विद्या-मात्र-सिद्धि-शास्त्र की रचना की थी।

इसके पूर्व एक आम्र वाटिका है जिसमें खण्डहर है। यहाँ असंग बोधिसत्व ने प्रकरण-आर्यवाचा-शास्त्र-कारिका की रचना की थी।

यहाँ से[1] ५०० ली जाकर आचार्य 'पि-सो-किया' (विशाखा) जनपद पहुँचा। यहाँ २० संघाराम थे जिनमें हीनयान के अनुयायी सम्मितीय संप्रदाय के ३००० भिक्षु थे।

पि-सो-किया

दक्षिण-पूर्व जानेवाले मार्ग की बाईं ओर एक बड़ा संघाराम है। यहीं प्राचीन काल में अर्हत देवशर्मन ने विज्ञान-काय-पाद-शास्त्र की रचना की थी। यह शास्त्र अहंकार और आत्मा के अस्तित्व का खण्डन करता है। यहीं महा अर्हत गोप ने शिंग-क्याओ-इन-शी शास्त्र की रचना की थी जिसमें उसने अहंकार और आत्मा का मण्डन किया था। इन सिद्धान्तों के कारण बहुत से विवादात्मक ग्रंथ बने।

यहीं पर वह भी स्थान था जहाँ बोधिसत्व धर्मपाल ने हीनयान के सैकड़ों शास्त्रकारों को परास्त किया था। इस स्थान के निकट वह स्थल है जहाँ तथागत ने छः वर्षों तक धर्म का उपदेश किया था।

यहाँ एक ७ फुट का वृक्ष है। यहाँ प्राचीन काल में भगवान ने अपने दाँत साफ करके दातुन भूमि में फेंक दिया था। वह तुरन्त जड़ पकड़ गया और यह छायादार वृक्ष अभी तक है। विधर्मियों ने कई बार इसे काट डाला, परन्तु जितने बार उन्हों ने काटा उतने बार यह और भी हरा-भरा हो गया।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम ५०० ली की यात्रा करके लोग 'शि-लो-फू-सी-ती' (श्रावस्ति) जनपद पहुँचे। यह परिधि में ६०० ली होगी। यहाँ सैकड़ों संघाराम हैं और इन

श्रावस्ति

[1] यहाँ दिशा का उल्लेख नहीं है। अनु०।

में सम्मतीय निकाय के अनुयायी कई सहस्त्र भिक्षु रहते हैं। इस की राजधानी उस स्थान पर थी जहाँ बुद्ध भगवान के जीवन काल में राजा प्रसन्नजित रहते थे। नगर के भीतर राजा के प्रासाद (कु-की) के खण्डहर हैं।

इसके निकट ही पुराने खण्डहर पर एक स्तूप है। यहीं कभी राजा प्रसन्नजित का बनवाया भगवान के उपदेश के हेतु उपदेश-गृह था।

पास ही एक स्तूप था जो उस स्थान पर बना था जहाँ प्राचीन समय में भगवान बुद्ध की मौसी प्रजापति भिक्षुणी का विहार था। उसके पूर्व में दूसरा स्तूप था। यह उस स्थान पर था जहाँ सुदत्त[1] का घर था। उसी के निकट एक बड़ा स्तूप था यहीं अँगुलि-माल्य ने अपनी पाप-वृत्ति छोड़ी थी।

नगर के दक्षिण पाँच या छ ली पर जेतवन है। यह वही वन है जिसे 'अनाथ पिंडदाद वन' कहते थे। यहाँ कभी एक संघाराम था पर इस समय तो वह गिरा पड़ा है।

जेतवन

पूर्व द्वार[2] की दोनों ओर ७० फुट ऊँचे दो स्तम्भ हैं। ये राजा अशोक के स्थापित किये हुए हैं। सारा (नगर) गिरी-पड़ी दशा में है। केवल पत्थर का एक कमरा बचा है जिस में एक सोनहली प्रतिमा है। यह प्रसन्नजित ने उस समय बनवाई थी जब भगवान माता को उपदेश देने त्रयत्रिंश स्वर्ग गये थे। राजा को यह सुनकर कि उदयन ने भगवान की चन्दन की प्रतिमा बनवाई हैं, ऐसा करने का ध्यान हुआ था।

विहार (पत्थर का एक कमरा) के पीछे थोड़ी दूर पर वह स्थान

---

[1]संभवतः अर्थ है खंडहर।

[2]प्रधान द्वार अथवा सिंह द्वार।

है जहाँ ब्रह्मचारी-विधर्मी ने स्त्री को मार कर बुद्ध भगवान पर मिथ्या हत्या का अभियोग लगाया था।

विहार के पूर्व १०० पग पर एक गत है। यहीं भगवान को विष देने के पाप से देवदत्त जीता नर्क गया था। इसके दक्षिण में एक दूसरी खाई है। इसी में कुकाली भिक्षुणी भगवान को दोष लगाने के अपराध से सशरीर नर्क गयी थी। उसके दक्षिण ८०० पग पर वह स्थान है जहाँ ब्राह्मणी चंचा, भगवान पर मिथ्यादोषारोपण करने के अपराध में सशरीर नर्क सिधारी थी। ये सब गर्त बड़े गहरे थे।

संघाराम के पूर्व दिशा में ७० पग पर एक विहार-संघाराम है। यह ऊँचा और बड़ा है इसमें भगवान की बैठी हुई मुद्रा की एक प्रतिमा है जो पूर्वाभिमुखी है। यह वही स्थान है जहाँ प्राचीन काल में भगवान ने विधर्मियों से शास्त्रार्थ किया था।

इसके पूर्व एक देव मंदिर है जो विहार के बराबर है। जब सूर्य की किरणें इस मंदिर की ओर पहुँचती हैं तो मंदिर की छाया विहार तक नहीं पहुँचती पर विहार की छाया सदा मंदिर पर पड़ती रहती है।

यहाँ से पूर्व ३ या चार ली पर एक प्राचीन नगर का खण्डहर है। यह वह स्थान है जहाँ सारिपुत्र ने विधर्मियों से शास्त्रार्थ किया था।

नगर के खण्डहर के उत्तर-पश्चिम ६० ली पर एक पुराने नगर का खण्डहर है। यह कश्यप बुद्ध के पिता का स्थान था। कश्यप भद्र-कल्प में हुए थे जब मनुष्यों की आयु २०,००० वर्ष होती थी। नगर के दक्षिण वह स्थान है जहाँ बुद्ध (कश्यप) ने बोधि ज्ञान पाकर पहले-पहल अपने पिता से भेंट की थी।

नगर के उत्तर एक स्तूप है। इस स्तुप में कश्यप बुद्ध के शरीर का संपूर्ण शरीर के धातु हैं। ये सब स्तूप राजा अशोक के बनवाये हैं।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व ८०० ली की यात्रा कर आचार्य 'कपिल-वस्तु'

कपिलवस्तु

जनपद पहुँचा। यह जनपद ४००० ली परिधि में है। प्रधान नगर तथा १००० गाँव सभी उजाड़ दशा में हैं। नगर का भीतरी भाग १५ ली घेरे में है। यह चारों ओर से घिरा हुआ है और सुदृढ़ है।[1]

नगर के भीतर कुछ पुराने खण्डहर हैं जो शुद्धोधन राजा के प्रासाद के हैं। इस खण्डहर पर एक विहार था इसमें राजा की मूर्त्ति थी।

इसके उत्तर कुछ खण्डहर हैं। यह माया देवी के शयन गृह के खण्डहर हैं। इसके ऊपर एक विहार बना है जिसमें माया देवी का चित्र बना है। उसके समीप एक विहार है। यहीं शाक्य बोधिसत्व, देवता[2] के रूप में उत्तर कर अपनी माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए थे। इसमें एक चित्र इस घटना को प्रदर्शन करनेवाला बना है।

स्थविर संप्रदाय वाले कहते हैं कि यह घटना 'उ-तन-लो-अन-श-च' (उत्तराषाढ़) मास के अन्तिम तिथि को हुई थी और भगवान माता के गर्भ में संध्या समय आये थे। यह हम लोगों (चीनी) के पाँचवें मास का १५ वाँ दिन होता है। अन्य संप्रदायवाले मास के २३वें दिन मानते हैं जो हमारे (चीनी) हिसाब से पाँचवें मास का आठवाँ दिन होता है।

इसके उत्तर-पूर्व एक स्तूप है। यहीं असित ऋषि ने शाक्यकुमार की जन्मपत्री देखी थी। राजधानी के दाहने बाएँ दो स्थान हैं जहाँ शाक्यकुमार (सिद्धार्थ) अपने साथियों के साथ खेल-कूद में प्रतियोगिता किया करते थे। वह स्थान भी था जहाँ से शाक्यकुमार घोड़े पर चढ़-कर नगर से बाहर हुए थे। वह स्थान भी था, जहाँ से कुमार ने चारों

---

[1]संभवतः तात्पर्य है कि यह सब ईंटों का बना है।

[2]जान पड़ता है भगवान देवता के रूप में हाथी पर चढ़कर आये। परन्तु देवता होने के कारण अदृश्य थे। अतः लोगों ने केवल हाथी को देखा।

द्वार से होकर नगर के बाहर वृद्ध, रोगी, शव और उस श्रमण को देखा था जिससे खिन्न होकर उन्होंने संसार त्याग दिया था।

रामग्राम

यहाँ से ५०० ली के एक भयानक वन को पारकर आचार्य राम जनपद (रामग्राम) पहुँचा। यहाँ थोड़े से घर और इने-गिने निवासी थे।

प्राचीन नगर के पूर्व एक ईंटों का स्तूप था जो १०० फुट ऊँचा था। यहाँ के प्राचीन काल के राजा ने भगवान के निर्वाण के पश्चात अपने भाग के धातु को सुरक्षित करने के हेतु इस स्तूप को बनवाया था। इसमें से निरन्तर ज्योति निकला करती है।

नाग-कुण्ड

इसी के समीप '**नाग-कुण्ड**' है। यह नाग प्रायः अपना रूप बदलकर मनुष्य रूप धरकर स्तूप की प्रदक्षिणा करता है। जंगली हाथी अपने सूँड़ो में फूल लेकर इस स्तूप की पूजा करने आते हैं।

इस स्तूप के निकट एक संघाराम है जिसका कर्मदान एक श्रमणेर है। लोग कहते हैं कि प्राचीन काल में एक भिक्षु अपने साथियों सहित यहाँ पूजा करने आया। सबने देखा कि वन के हाथी अपने सूण्डों में फूल लेकर इस स्तूप पर चढ़ा रहे हैं। उन सब ने देखा कि हाथी फिर अपने सूण्डों में पानी भरकर उस पर चढ़ाने आये हैं। इस पर लोगों को बड़ी भक्ति हुई और उनमें से एक भिक्षु ने संघ छोड़कर वहीं रहना निश्चय किया। उसने अपने साथियों से कहा, "बन के हाथी पशु होकर इस स्थान को साफ़ करते हैं और इस पर फूलादि चढ़ाते हैं तो हम मनुष्य होकर और भिक्षु होकर इस स्थान को कैसे बिना पूजा-पाठ किये पड़ा रहने दे सकते हैं।"

इस प्रकार वह अपने साथियों को छोड़कर वहीं रहने लगा। उसने घर बनाया, स्थान साफ किया और वहाँ फूल-फल लगाये और बराबर उसी काम में रहता, चाहे जाड़ा हो चाहे गर्मी।

आस-पास के लोगों ने उसकी धन से सहायता की और एक संघाराम वहाँ बनवा दिया और इस भिक्षु से प्रार्थना की कि वह इसके प्रबंध का भार अपने ऊपर ले। तब से बहुत दिनों तक इस प्रकार उसका प्रबंध होता आ रहा है।

श्रमणेर संघाराम से १०० ली पूर्व दिशा में वन पार करने पर आचार्य सुयेन-च्वांग को एक स्तूप मिला जो अशोक राजा का बनवाया था। यहीं नगर छोड़कर शाक्यकुमार ने अपने वस्त्राभूषणादि उतारकर छंदक को दिये थे। यहाँ तथा जहाँ कुमार ने अपने केश काटे थे—दोनों स्थानों पर स्मारक स्तूप हैं।

वन से निकलकर आचार्य 'कु-शी-न-के-लो' (कुशीनगर) जनपद पहुँचा। यह स्थान बिल्कुल उजड़ा पड़ा था।

कुशीनगर

नगर के उत्तर-पूर्व कोने पर 'चण्ड' के प्राचीन भवन के खण्डहर पर एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया है। इस भवन के भीतर एक कूप है जो उस समय बना था जब चण्ड पूजा करने जा रहा था।[1] इसका जल अभी तक मीठा और साफ़ था।

नगर के उत्तर-पश्चिम तीन या चार ली पर आचार्य को 'ओ-शी-तो-फ-ताइ (अजितवती) नदी पार करनी पड़ी। इसके तट के समीप ही 'शाल-वन' मिला। यह वृक्ष चीनी 'हो' से मिलता-जुलता था। केवल इसका वलकल हरापन लिये हुए नीलवर्ण का था। इसकी पत्तियाँ चमकीली थीं और चिकनी सफ़ेद रंग की थीं। यहाँ दो जोड़े शाल के वृक्ष थे जो बराबर के ऊँचाई के थे। यहीं भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ था।

यहाँ एक बड़ा सा विहार था जो ईंटों का बना था। इसके भीतर भगवान की निर्वाणावस्था की प्रतिमा थी। इसका सिर उत्तर की ओर था।

---

[1] चण्ड ने भगवान को निमंत्रण दिया था।

ऐसा जान पड़ता था मानों भगवान सो रहे हैं। विहार के निकट एक स्तूप २०० फुट ऊँचा है। यह अशोक राजा का बनवाया था। यहाँ एक पत्थर का स्तंभ भी है जिस पर भगवान के निर्वाण के विषय में लेख है पर उसमें तिथि नहीं दी थी।

उस समय लोगों ने आचार्य सुयेन-च्वाँग को बतलाया कि भगवान संसार में ८० वर्ष (जीवित) रहे और उनका निर्वाण वैशाख के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को हुआ था। यह हम लोगों (चीनवालों) की गणना से दूसरे मास का १५ वाँ दिन हुआ। सर्वास्तिवादी निकाय वाले कहते हैं कि भगवान का परिनिर्वाण कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष में हुआ। हमारे देश के हिसाब से यह ९वें महीने का ८ वाँ दिन हुआ।

कुछ लोग कहते हैं कि निर्वाण को हुए १२०० वर्ष हुए; कुछ १५०० वर्ष बतलाते हैं। कुछ लोग केवल ९०० और १००० के भीतर बतलाते हैं। उन स्थानों पर स्मारक स्तूप बने थे जहाँ भगवान सोने की अर्थी में से उठ बैठे थे, जहाँ माता को उपदेश दिया था, जहाँ अपना हाथ निकाल कर आनंद को देखाया था, जहाँ पैर अर्थी के बाहर निकाल कर कश्यप को देखलाया था, तथा जहाँ चंदन से अग्नि संस्कार किया गया था और जहाँ उनके शरीर के धातु को राजाओं ने बाँटा था।

वाराणसी

यहाँ से ५०० ली जंगल से होकर आचार्य 'पो-लो-नी-सी' (वाराणसी) जनपद पहुँचा। यह जनपद ४००० ली घेरे में था। प्रधान नगर की पश्चिम सीमा पर गंगा नदी है। यह १० ली लम्बा और ५ या ६ ली चौड़ा है। यहाँ ३० संघाराम हैं जिन में २००० भिक्षु थे। ये हीनयान के अनुयायी सर्वास्तिवाद निकाय के उपासक थे।

'पो-लो-नी-सी'[1] (वरुणा) नदी पार कर उत्तर-पूर्व दिशा में १० ली

[1] वाटर्स केवल—पोलोना (वरुण) लिखते हैं। यही शुद्ध भी है।

मृगदाव

जाने पर आचार्य 'मृगदाव विहार' पहुँचा। संघाराम के का शिखर आकाश से बातें करता था और इस के चारों ओर बरामदे थे। यहाँ १५०० भिक्षु थे जो सम्मतीय सम्प्रदाय के अनुसार हीनयान के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे।

बड़े प्रांगण में एक विहार था जो १०० फुट ऊँचा था। पत्थर की सीढ़ियाँ और ईटों के आले विहार के चारों ओर बने थे। प्रत्येक आले में एक सोनहली भगवान बुद्ध की प्रतिमा थी।

बड़े विहार में एक ताम्र-पत्थर[1] की बनी भगवान बुद्ध की प्रतिमा थी जो भगवान के शरीर के नाप की थी। यह प्रतिमा भगवान का धर्मचक्र वर्तन प्रदर्शित करती है।[2]

विहार के दक्षिण-पूर्व एक अशोक का बनवावा स्तूप है जो १०० फुट ऊँचा है। उसके सामने एक स्तंभ ७० फुट ऊँचा है। यहीं भगवान ने उपदेश करना प्रारंभ किया था। इसी के निकट वह स्थान है जहाँ 'मे-त-ली' (मैत्री) बोधिसत्व ने अपने भविष्य के विषय में भविष्यद्वाणी सुनी थी।

इसके पश्चिम एक स्तूप है। यहीं वह स्थान है जहाँ पूर्व जन्म में प्रभापाल बोधिसत्व[3] भद्रकल्प में पैदा हुये थे जब मनुष्यों की आयु २०,००० वर्ष होती थी। उस समय कश्यप बुद्ध थे और उन्हीं से उन्हें वरदान मिला था।

इसी के दक्षिण वह स्थान है जहाँ विगत चार बुद्ध चले-फिरे थे।

---

[1]अथवा पीतल से मढ़ी हुई।

[2]भगवान बुद्ध ने सारनाथ में प्रथम उपदेश करना आरंभ किया था। इसे मृगदाव कहते है। धर्मचक्र से तात्पर्य उपदेश करने से है।

[3]अथवा ज्योतिपाल बोधिसत्व।

यह चबूतरा ५०० फुट लम्बा और ७ फुट ऊँचा है। यह कुछ हरापन लिये हुए पीले पत्थर का बना है और इस पर इन बुद्धों के चरण-चिन्ह हैं।

विहार के पश्चिम तथागत के वस्त्र धोने तथा भिक्षा-पात्र धोने का कुण्ड है। इन कुण्डों की रक्षा नाग करते हैं इसी से कोई उन्हें गंदा नहीं करता।

इसी तालाब के निकट एक स्तूप है जहाँ पूर्व जन्म में तथागत ने छः दाँतोंवाले हाथी के रूप अपने दाँत व्याध को दिये थे। यहीं वह भी स्थान था जहाँ तथागत पक्षि का जन्म लेकर श्वेत हाथी और बन्दर के साथी हुए थे और न्यग्रोध वृक्ष की आयु के विषय में विचार कर मनुष्यों को उपदेश करने गये थे।

यहीं वह भी स्थान था जहाँ तथागत ने मृगों के राजा के रूप में जन्म लिया था। वह भी स्थान था, जहाँ तथागत ने कौनडिन्य[1] और उसी के साथी कुल पाँच व्यक्तियों को सद्धर्म में ग्रहण किया था।

यहाँ से गंगा नदी से ३०० ली पूर्व की दिशा में यात्राकर के

चेन-चू

आचार्य 'चेन-चू' (गाजीपुर) जनपद पहुँचा। यहाँ से उत्तर-पूर्व जाकर गंगा पार कर १४० या १५० ली की यात्राकर वह 'वैशाली' जनपद पहुँचा।

यह जनपद ५००० ली परिधि में है। यहाँ की भूमि बलुही और

वैशाली

तर है। यहाँ आम्र और मोचा (मधूक-महुआ) के वृक्ष बहुत थे। प्रधान नगर उजाड़ था और गिरी पड़ी दशा में था। उसका खण्डहर ६० या ७० ली के घेरे में है। यहाँ इने-गिने निवासी हैं।

इस खण्डहर के उत्तर-पश्चिम ५ या ६ ली पर एक संघाराम है

---

[1] कथा के लिए देखो जातक।

विमल कीर्तिभवन

जिसके निकट एक स्तूप था। यहीं भगवान ने प्राचीन समय में विमल-कीर्ति सूत्र का उपदेश दिया था। इस ३ या ४ ली उत्तर-पूर्व एक स्तूप है यह विमल कीर्ति के भवन का खण्डहर है। इसमें अनेक दिव्य चमत्कार देख पड़ते हैं।

इसके पास ही पत्थरों का एक भवन है यहीं विमल कीर्ति ने रुग्णवस्था में उपदेश किया था। इसी के पास रत्नाकर और देवी आम्रदारिका के भवन के ध्वंसावशेष हैं।

यहाँ से तीन या चार ली पर एक स्तूप है। यहीं निर्वाण के पूर्व कुशीनगर जाने के पहले भगवान ठहरे थे। उस समय देवता और मनुष्य उन्हें घेरे हुए थे।

इसके पश्चिम वह स्थान है जहाँ से मुड़ कर भगवान ने अंतिम बार वैशाली नगर को देखा था। इसके दक्षिण वह स्थान मिला जहाँ आम्रदारिका ने आम्र-वन भगवान को धर्मार्थ अर्पण किया था। यहीं वह भी स्थान था जहाँ मार राजा की प्रर्थना पर भगवान ने परिनिर्वाण लेना स्वीकार किया था।

वैशाली की दक्षिणीय सीमा छोड़, गंगा के साथ-साथ चलकर १०० ली की यात्रा कर आचार्य 'श्वेतपुर' नगर पहुँचा। यहाँ आचार्य ने बाधिसत्व पिटक प्राप्त किया।[१]

मगध

यहाँ से दक्षिण जाकर गंगा नदी पार कर लोग 'मगध' जनपद पहुँचे। यह जनपद ५,००० ली घेरे में है। यहाँ के निवासी सभ्य और सुशिक्षित हैं। यह ५० संघाराम हे जिनमें महायान के १०,००० भिक्षु रहते थे।

नगर के दक्षिण एक प्राचीन नगर है जो यद्यपि उजड़ा पड़ा है फिर भी उसकी चहार दिवारी अभी तक खड़ी है।

---

[१] संभवतः यह भाग प्रक्षिप्त है।

कुसुमपुर

प्राचीन समय में जव मनुष्यों की आयु अपरिमित होती थी, यह स्थान 'कुसुमपुर' कहलाता था। राज प्रसाद में फूलों की वहुतायत से ऐसा नाम पड़ा था। पीछे से जव मनुष्यों की आयु सहस्त्र वर्ष रह गई तो उस समय पाटलि वृक्ष के कारण इसका नाम 'पाटलिपुत्र पुर' पड़ा।

पाटलिपुत्र पुर

भगवन के परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् विंवसार का प्रपौत्र अशोक राजा था। उसने राजगृह से अपनी राजधानी पाटलिपुत्र परिवर्तित की। तव से अनेक वंश हो गये (वहुत समय हो गया) अव केवल खण्डहर मात्र रह गया है। कई शत संघारामों में से केवल दो तीन वच रहे हैं।

प्रधान नगर के उत्तर गंगा तट पर एक छोटी वस्ती है। यहाँ १००० घर होंगे (वा निवासी होंगे)। इसके उत्तर प्रस्तर स्तंभ है जो १० फुट ऊँचा है। यहीं अशोक ने 'नर्क' (यातना-गृह) वनवाया था।

आचार्य सुयेन-च्वांग यहाँ सात दिन तक ठहरा और तीर्थों का दर्शन करता रहा।

'नर्क' के दक्षिण एक स्तूप है। यह ८४,००० स्तूपों में से एक है जो राजा (अशोक) ने मनुष्य कारीगरों से वनवाया था। इसके भीतर भगवान का धातु है। इसमें निरन्तर अलौकिक चमत्कार दिखाई पड़ता है।

यहाँ एक विहार है जिसमें एक शिला थी जिस पर भगवान चले थे। इस पर भगवान का चरण-चिन्ह है। यह चिन्ह एक फुट आठ इंच लंवा और छः इंच चौड़ा है। प्रत्येक चरण के नीचे १००० दण्ड वाला चक्र वने हैं। प्रत्येक उँगली पर स्वस्तिका [卐], कमल, कुंभ, मत्स आदि वने हैं जो चमकते रहते हैं। यह सव चिन्ह एक वड़े चौकोर पत्थर पर वने थे। इसी पर, परिनिर्वाण के हतु वैशाली जाते समय खड़े होकर भगवान ने आनंद से कहा था, "अव मैं अंतिम वार

'वज्रासन' और 'राजगृह' का दर्शन करता हूँ।" वे नदी के दक्षिण तट पर थे। उसी समय से उनके चरण-चिन्ह इस पत्थर पर अंकित हैं।

विहार के उत्तर एक स्तंभ है जो ३० फुट ऊँचा है। इस पर अशोक राजा का लेख है कि उसने जंबू दीप को तीन बार बुद्ध, धर्म, और संघ को दान दिया और तीन बार उसे धन से मोल लिया।

कुकुटाराम

पुराने नगर के दक्षिण-पूर्व 'कुकुटाराम' नामक संघाराम का खण्डहर है। इसे अशोक ने बनवाया था। यहीं उसने १००० भिक्षुओं को आमंत्रित किया था और उन्हें चतुर्विध प्रकार के दान दिये थे।[1]

आचार्य सुयेन-च्वांग यहाँ सात दिनों तक ठहरा और प्रत्येक की बारी-बारी से उसने दर्शन-पूजन किया।

यहाँ से छः या सात योजन दक्षिण-पश्चिम चलकर आचार्य 'तिलडक' विहार पहुँचा। यहाँ तीनों पिटक के मानने वाले सैकड़ों भिक्षु थे। आचार्य का आगमन सुनकर वे उसके स्वागत के लिये आये और उसे लिवा गये।

यहाँ से दक्षिण ओर १०० ली यात्राकर बोधिवृक्ष के पास पहुँचे।

बुद्धगया

इस वृक्ष के चारों ओर ऊँची, सदृढ़ ईटों की दीवार है। यह दीवार पूरब-पश्चिम लंबी और उत्तर-दक्षिण संकरी है। इसका मुख्य द्वार पूर्व की ओर 'नि-लेन-शान' (नैरंजना) नदी की ओर है। दक्षिण द्वार पर फूलों का तालाब है। यह पश्चिम ओर पहाड़ी में रक्षित है। इसके भीतर (चौहद्दी के भीतर) पवित्र स्मारक, विहार, स्तूप आदि हैं जिन्हें राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार पूजा के निमित्त बनवाते आये हैं।

---

[1] 'द्वीप वंश' के अनुसार यह 'तीसरी परिषद्' जान पड़ती है जिसे धर्माशोक ने बुलाया था। बील।

प्रांगण के मध्य में 'वज्रासन' है जो भद्रकल्प के आरंभ में सृष्टि के साथ स्वयं आविर्भूत हुआ था। यह विश्व का केन्द्र है। इसकी नींव नीचे स्वर्ण चक्र तक पहुँची है। यह १०० पग परिधि में है और यह अक्षय है। वज्रासन से तात्पर्य यह है कि यह अक्षय और निश्चल है। इसे कोई तोड़ नहीं सकता। यदि यह न होता तो पृथ्वी नष्ट हो जाती। यदि यह इतना सुदृढ़ न होता तो पृथ्वी वज्र समाधि लिये हुए व्यक्ति का भार न वहन कर सकती।

जो भी 'मार' पर विजय करना चाहता है और बोधिज्ञान की इच्छा रखता है वह इस पर अवश्य बैठे। यदि यह अन्यत्र ले जाया जायगा तो पृथ्वी उलट जायगी। इसलिये भद्रकल्प के १००० बोधिसत्व, सब ने यहीं बैठकर बोधिज्ञान प्राप्त किया है।

इस स्थान को बोधिमण्ड (प) भी कहते हैं। यदि पृथ्वी हिल जाय (उलट जाय) तो भी यह टस-से-मस नहीं होगा। आज से सौ-दो सौ वर्ष बाद जब लोगों का पुण्य कम हो जायगा तो बोधिवृक्ष के पास आनेवाले लोग इस वज्रासन को यहाँ न पावेंगे।

भगवान के निर्वाण के पश्चात भिन्न-भिन्न देशों में राजाओं ने इस स्थान की सीमा उत्तर और दक्षिण की ओर निर्धारित करनी चाही और इसलिए बोधिसत्व की दो प्रतिमाएँ पूर्वाभिमुख रखवा दीं। लोगों का कथन है कि जब ये प्रतिमाएँ भूमि में धंस जायँगी तो बौद्ध धर्म का भी लोप हो जायगा। दक्षिण ओर की प्रतिमा वक्षःस्थल तक भूमि में धंस चुकी है।

बोधिवृक्ष

बोधिवृक्ष वही पीपल वृक्ष है। भगवान बुद्ध के जीवन काल में इस वृक्ष की ऊँचाई सौ फुट थी परन्तु दुष्ट राजाओं ने अनेक बार इसे काट डाला है। अतः इस समय इस की ऊँचाई केवल ५० फुट थी। भगवान ने इसी के नीचे

बोधित्व[1] प्राप्त किया था। इसी से इसका नाम बोधि वृक्ष पड़ा है। इसका वल्कल पीलापन लिये चमकीले रंग का है। इसकी पत्तियाँ हरी चमकीली हैं। इसकी पत्तियाँ शरद और वसंत में नहीं गिरती। केवल जब भगवान के निर्वाण का दिन आता है तो उसी समय ये गिर जाती हैं और फिर दूसरी निकल आती हैं। प्रत्येक वर्ष इसी समय पर देश-देश के राजे, मंत्री, राजपुरुष आदि यहाँ एकत्र होते हैं और इसकी जड़ में दूध चढ़ाते हैं, दीपक जलाते और फूल चढ़ाते हैं। पत्तियों को एकत्र कर वे चले जाते हैं।

आचार्य सुयेन-च्वांग जब इस वृक्ष का दर्शन करने आया और उसने बोधिज्ञान प्राप्त करने की अवस्था की, बोधिसत्व मैत्रेय द्वारा स्थापित प्रतिमा को देखा तो उसके मन में बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई। उस ने साष्टांग प्रणाम किया और बड़े दुख से आँखों में आँसू भर कर आह ली और कहने लगा, "जिस समय भगवान को बोध हुआ था, मुझे ज्ञात नहीं मैं आवागमन के किस फंदे में था, परन्तु इस समय तो भगवान की प्रतिमा का दर्शन कर और अपने पापों का बोझ और गहराई स्मरण कर मेरे मन को बड़ा कष्ट पहुँच रहा है और मेरी आँखें भर आती हैं।"

इसी समय उस स्थान पर वर्षावास समाप्त कर आये हुए सहस्त्रों भिक्षु उपस्थित थे। वे आचार्य की भक्ति देखकर बड़े प्रभावान्वित हुए।

इस स्थान के आस-पास एक योजन तक की भूमि में अनेक पवित्र स्थान हैं। आचार्य यहाँ ८-९ दिन रहा और उसने प्रत्येक की उपासना की।

नालंद

दसवें दिन वह नालंद विहार गया। वहाँ के संघ ने अपने में से चार प्रतिष्ठित प्रतिनिधियों को आचार्य को बुलाने भेजा था। उसके साथ प्रस्थान कर सात योजन की यात्राकर

---

[1] अनुत्तर बोधि।

आचार्य विहार के सीर पर पहुँचा। जहाँ यह सीर थी उसी गाँव में मुद्गलायन का जन्म हुआ था। यहाँ जलपान करने के लिये वह ठहरा। उसको दो सौ भिक्षु, सहस्रों उपासक घेरे हुए जयघोष करते थे। छत्र, पुष्प, सुगंध, पताका आदि साथ में लिये हुए इन लोगों ने आचार्य को नालंद विहार में प्रवेश कराया।

यहाँ पहुँचने पर वहाँ के सारे संघ ने उसका स्वागत किया और उसका आदर सत्कार किया। हमा स्थविर के निकट विशेष आसन रखकर उन लोगों ने आचार्य से बैठने की प्रार्थना की। तब अन्य सब लोगों ने भी आसन ग्रहण किया।

शीलभद्र

इसके पश्चात कर्मदान को आदेश हुआ कि वह घंटा बजवाकर घोषित करे, "जब तक आचार्य सुयेन-च्वाँग विहार में रहे, उन्हें भिक्षुओं के योग्य पूजा पाठ की सब सामग्री मिलेगी।" तब उन लोगों ने अधेड़ अवस्था के बीस चतुर और शालीन विद्वानों को सुयेन-च्वाँग के साथ कर दिया कि वे आचार्य को 'चिंग-फा-शाँग' (विधानिधि) के पास ले जाँय। इनका नाम 'शीलभद्र' था। संघ आचार्य का बड़ा आदर करता था और वे लोग आदरवश उसका नाम नहीं लेते थे, वरन उसको 'चिंग-फा-शाँग' (विधानिधि) कह कर पुकारते थे।

आचार्य और लोगों के साथ शीलभद्र को अभिवादन करने गया। प्रधान (कर्मदान) ने उस (शीलभद्र) के सामने सब उपहार रखकर बड़ी भक्ति से प्रणिपात किया और शिष्टाचार के अनुसार घुटने के बल चलकर उसके चरण छुये और भूमि पर सिर रक्खा। शिष्टाचार हो जाने के पश्चात शीलभद्र ने आसन लाकर बिछाने की आज्ञा दी और आचार्य को आसन ग्रहण करने को कहा। बैठने पर महास्थविर शीलभद्र ने आचार्य से पूछा, "आप किस देश से आते हैं?" आचार्य ने उत्तर दिया,

"मैं चीन देश से आ रहा हूँ। आप की सेवा में योग-शास्त्र का अध्ययन करने की इच्छा से यहाँ आया हूँ।"

यह सुनकर महास्थविर ने अपने शिष्य बुद्धभद्र को बुलाया। महास्थविर की आँखों में आँसू भरे थे। बुद्धभद्र महास्थविर का भतीजा था। इसकी अवस्था ७० के ऊपर थी। यह सूत्र और शास्त्रों का प्रकाण्ड पंडित और बड़ा वाग्मी था। शीलभद्र ने उससे कहा, "तुम इन लोगों को मेरे तीन वर्ष की बीमारी का हाल सुना दो।"

बुद्धभद्र

बुद्धभद्र यह सुन कर रोने लगा। परन्तु अपने को रोककर उसने रुग्णावस्था का विवरण कहना आरंभ किया। उसने कहा, "मेरे उपाध्याय कुछ दिन हुए शूल रोग से पीड़ित थे। जब शूल उठता था तो उनके हाथ-पैर अकड़ जाते थे और वे दुख से चिल्लाने लगते थे मानो वे आग में जल रहे हों अथवा किसी ने जैसे उन्हें छुरी भोंक दी हो। शूल अपने आप क्षण भर में अच्छा हो जाता था। इस प्रकार २० वर्ष या इससे अधिक ऐसी अवस्था रही। परन्तु तीन साल से शूल का प्रकोप इतना भयानक हो गया गया था कि असह्य था और उपाध्याय को जीवन से घृणा हो गई थी और वे उपवास करके मृत्यु बुलाना चाहते थे। उसी दिन आधी रात को उपाध्याय ने स्वप्न में तीन देवताओं को देखा। उनमें एक स्वर्ण-वर्ण, दूसरा रजत-वर्ण, तीसरा स्फटिक-वर्ण था। उनका रूप और उनकी मुद्रा भक्ति उत्पन्न करनेवाली थी। उनका दिव्य, चमकदार परिधान बड़ा भव्य था। उपाध्याय के निकट आकर देवताओं ने पूछा, "क्या तुम इस शरीर को छोड़ना चाहते हो? धर्मशास्त्र कहता है—शरीर दुख सहने के निमित्त है परन्तु वे इससे घृणा और इसका परित्याग करने का आदेश नहीं करते। तुम अपने पूर्व जन्म में किसी देश के राजा थे और तुमने लोगों को बहुत कष्ट पहुँचाया था। यह उसी का फल है। इसलिये अपने बुरे कर्मों पर विचार करो और उनपर सच्चे

हृदय से पश्चातप करो। कष्टों को धैर्य्यपूर्वक सहन करो और शास्त्र और सूत्रों के अध्ययन में मन लगाकर परिश्रम करो। इस प्रकार तुम अपने कष्टों से छुटकारा पा जाओगे। परन्तु यदि तुम अपने शरीर से घृणा करोगे तो तुम्हारे कष्टों का अन्त न होगा।" यह सुनकर उपाध्याय ने देवताओं को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

"स्वर्ण-वर्ण के देवताओं ने स्फटिक वर्ण देव की ओर इंगित करके उपध्याय से कहा,—"तुम्हें यह ज्ञात है कि नहीं कि ये अवलोकितेश्र बोधिसत्व हैं।" रजत-वर्ण देव की ओर लक्ष करके देव ने कहा कि, "ये मैत्रेय बोधिसत्व हैं।"

"उपध्याय ने मैत्रेय को प्रणाम करके कहा, "आपके दास शील-भद्र ने सदा यही प्रार्थना की थी कि उसे आपके धाम[1] में जन्म मिले। परन्तु उसे पता नहीं कि उसकी इच्छा पूर्ण होगी वा नहीं।" मैत्रेय बोधिसत्व ने उत्तर दिया, "तुम धर्म का प्रचार करो, तुम्हारी कामना पूरी होगी।"

"स्वर्ण-वर्ण देव ने कहा, "मैं मंजुश्री बोधिसत्व हूँ। तुम्हारी प्राण देने की इच्छा जानकर हम लोग तुम्हें रोकने आये हैं। तुम हम लोगों के बचन को सत्य मानो और धर्मशास्त्रों का प्रचार करो, योग शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का उन लोगों को उपदेश दो जिन्हों ने इनका नाम नहीं सुना है। इस प्रकार तुम्हारा शरीर धीरे-धीरे निरोग हो जायगा और तुम कष्ट से छुट्टी पा जाओगे। स्मरण रखो चीन देश का एक श्रमण जिसे धर्म की बड़ी जिज्ञासा है तुम्हारे पास अध्ययन करने की इच्छा रखता है। उसे तुम जी लगा कर पढाना।"

"महास्थविर (शीलभद्र) ने यह सुन कर प्रणाम किया और कहने लगा, "मैं आप की आज्ञानुसार आचरण करूँगा।" यह सुन कर देव

---

[1] तुषित स्वर्ग में।

लोग अन्तर्ध्यान हो गये। तब से उपाध्याय का रोग जाता रहा और उसे फिर शूल न उभड़ा।"

उपस्थित लोग बुद्धभद्र द्वारा वर्णित इस चमत्कारपूर्ण घटना को सुनकर बड़े आश्चर्य में हो गये। आचार्य सुयेन-च्वाँग यह सुनकर आनन्द और भक्ति से भर गया उसने महास्थविर को प्रणाम किया और कहने लगा, "यदि आप का कथन ठीक है तो सुयेन-च्वाँग अपनी शक्ति भर परिश्रम करके आप से विद्या अध्ययन करेगा। आप से मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे अपना शिष्य बनाकर मुझ पर अनुग्रह करें।"

महास्थविर शीलभद्र ने कहा, "तुम कितने वर्षों से यात्राकर रहे हो?" उसने उत्तर दिया, "तीन वर्ष से। और इस प्रकार जब उसके स्वप्न में घटित सारी बातें मिल गईं तो महास्थविर ने आचार्य से कहा कि हमें गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर आनंदित होना चाहिये।"

बालादित्य का विद्यालय

इस के उपरान्त वह राजा बालादित्य के विद्यालय (विहार) में गया और बुद्धभद्र के स्थान में ठहरा। बुद्धभद्र का आवास चार मंजिल का था। यहाँ आचार्य सात दिन तक उसका अतिथि रहा। इसके पश्चात् आचार्य, धर्मपाल बोधिसत्व के आवास के उत्तर ठहराया गया जहाँ उसके खाने-पीने का संघ की ओर से प्रबंध किया गया। प्रतिदिन आचार्य को १२० जंबीर,[1] २० 'पिन-लोंग-सू' (पूगी फल), २० 'ताउ-काउ' (जायफल), १ औंस कपूर, और एक 'चिंग' (एक पेग) महाशालि चावल मिलता था। यह चावल बड़े दानों का होता है और पकाने पर चिकना और सुगंधित होता है। इस के टक्कर का और कोई चावल नहीं होता। केवल मगध में यह उत्पन्न होता है। यह केवल राजाओं और महापुरुषों को मिलता है। इसी से इसका नाम 'कुं-त-जिन-माइ' (अर्थात् राजभोग) पड़ा है।

---

[1] जंभीर—एक फल शायद नीबू या नारंगी। जंभीरी नीबू।

प्रत्येक मास उसे तीन तौल (एक नाप) तेल और प्रतिदिन उसे मक्खन और अन्य वस्तुएँ मिलती थीं।

एक उपासक[1] और एक ब्राह्मण (संन्यासी) को उसके साथ हाथी लेकर चलने की आज्ञा थी।

नालंद विहार

नालंद विहार में इस प्रकार के अगिणित भिक्षु महास्थविर के अतिथि थे क्योंकि आचार्य को अतिरिक्त और भी अन्य सभी देशों के निवासी थे। ऐसा आदर सत्कार उसका यात्रा भर में कहीं भी नहीं हुआ था।

नालंद विहार का नाम 'ना-अलं-दा' (काफ़ी नहीं दिया) है। पुरानी कथा है—संघाराम के दक्षिण आम्रवन में एक गर्त है। इस तालाब में नालंद नाम का नाग रहता था। इसी से इसका नाम 'नालंद' पड़ा। कुछ लोग कहते हैं कि तथागत अपने बोधिसत्वावस्था में कहीं के राजा थे। उस समय उन्होंने यहाँ प्रधान नगर बसाया था। उन्हें अनाथों, असहायों पर बड़ी दया आती थी। इसी हेतु उनके उपकार के लिये वे अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उस धमार्थ आचरण की स्मृति में इस का नाम 'ना-अलं-दा' पड़ा अर्थात् 'भर पूर-इच्छा भर नहीं दान कर पाये।'

प्राचीन काल में यहाँ एक सेठ की आम्रवाटिका थी। पाँच सौ व्यापारियों ने मिल कर लाखों मुहरों (स्वर्णमुद्रा) पर उसे मोल लेकर भगवान को अर्पण किया था। यहाँ भगवान ने तीन मास धर्म का उपदेश दिया था। और इस प्रकार बहुत से महाजनों ने अर्हत पद प्राप्त किया था।

भगवान के परिनिर्वाण के पश्चात प्राचीन काल में एक राजा ने

---

[1] जूलियन—श्रमण अनुवाद करते हैं। कदाचित ब्रह्मचारी कहना अधिक उचित होगा।

बुद्ध और धर्म के निमित्त इस विहार को बनवाया था। इसका नाम 'शक्रादित्य' था। उसकी मृत्यु के पश्चात 'बुद्धगुप्त' राजा ने उसकी गद्दी छीन ली। इसने दक्षिण ओर एक दूसरा संघाराम बनवाया। उसके उत्तराधिकारी तथागत राजा ने पूर्व की ओर एक संघाराम बनवाया। इस के उपरान्त उस के पुत्र बालादित्य राजा ने उत्तर पूर्व एक संघाराम निर्माण कराया। कुछ चीनी भिक्षुओं को अपने यहाँ निमंत्रण में आया देखकर राजा को बड़ा आनन्द हुआ और उसने सन्यास ले लिया।[1]

उसके पुत्र बज्र ने सिंहासन पर बैठकर उत्तर की ओर एक दूसरा संघाराम बनवाया। इसके उपरान्त मध्यभारत के किसी राजा ने उस के निकट एक दूसरा संघाराम बनवा दिया। इस प्रकार छः राजाओं ने एक एक करके छः भवन बनवाये।

सब विहारों के चारों ओर ईटों की दीवार है जिसके भीतर सब आते जाते हैं। महाविद्यालय में जाने का एक बड़ा द्वार था। इसी से लगी आठ बड़ी शालाएँ हैं। अलंकृत कंगूरों का समूह, पर्वत शिखर की भाँति एकत्र दिखाई पड़ती थीं। बेधशालाओं के प्रकोष्ट आकाश से बातें करते थे। खिड़कियाँ कितनी ऊँची थीं कि वायु और बादल की परीक्षा हो सकती थी और ऊँची ओतियों के ऊपर सूर्य और चन्द्र के ग्रहण आदि का वेध हो सकता था।[2]

तलावों में स्वच्छ जल भरा था। नीले कमल और लाल कनक पुष्प बीच-बीच में फूले थे। बीच-बीच में चारों ओर आम की बाटिका थी जिसकी छाया चारों ओर फैल रही थी।

---

[1]इसकी कथा यात्रा विवरण में मिलेगी। अनु०

[2]यद्यपि भाषा स्पष्ट नहीं है पर यह स्पष्ट है कि हौ-ली का तात्पर्य बेधशाला तथा उनके यंत्रों से है। अनु०

बाहरी कक्ष जहाँ भिक्षु लोग रहते थे चार मंजिल का था। प्रत्येक में नागमुखी रँगी ओतियाँ थीं, इसके खम्भे लाल मोती की भाँति चमकीले थे। इनमें बड़ी कारीगरी की खुदाई थी। अलंकृत छज्जे और छाजन खपरैलों से छाये थे। इन पर सूर्य की किरणों के पड़ने से सैकड़ों रंग देख पड़ते थे। सब की सब अपूर्व दृश्य की शोभा बढ़ाती थीं।

यों तो भारत में सहस्रों विहार हैं पर इसकी बराबरी का कोई भी नहीं है। यहाँ सदा भिक्षु और ब्रह्मचारी मिलाकर १०,००० प्राणी निवास करते थे। ये लोग महायान, तथा उनके १८ निकाय ही की शिक्षा नहीं ग्रहण करते, वरन् साधारण शास्त्र जैसे वेदादि, हेतुविधा, शब्द-विद्या, चिकित्सा विद्या, अथर्ववेद, सांख्य; इनके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य छोटे-मोटे शास्त्र। यहाँ १००० ऐसे उपाध्याय थे जो २० से ऊपर सूत्रों या शास्त्रों को पढ़ा सकते थे। ५०० ऐसे हैं जो ३० ग्रंथों को पढ़ा सकते थे और आचार्य को लेकर १० ऐसे व्यक्ति थे जो ५० ग्रंथों को पढ़ा सकते थे। केवल शीलभद्र (महास्थविर) ने सब ग्रंथों का पारायण किया था। अपनी वृद्धावस्था तथा विद्या के कारण वह संघ का प्रधान था। विहार में नित्य १०० आचार्य उपदेश देते हैं और विद्यार्थी उन्हे नित्य समय पर सुनते हैं।

यहाँ के भिक्षु बड़े गंभीर और शांत हैं। ७०० वर्षों से यह विहार स्थापित है परन्तु एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जब किसी ने विनय का उलंघन किया हो।

यहाँ का राजा भिक्षुओं का बहुत आदर-सत्कार करता है और इसने संघाराम को १०० गाँवों की आमदनी दे रखी है। इन गाँवों के २०० गृहस्थ नित्य सैकड़ों पिकुल[1] साधारण चावल, कई सौ कैटी[2]

---

[1]एक पिकुल = १३३ पौण्ड (एक पौण्ड करीब ½ सेर)।
[2]कैटी = १६० पौण्ड (८० सेर)।

मक्खन और दूध देते हैं। इस लिए यहाँ के भिक्षुओं (विद्यार्थिओं) को किसी वस्तु की कमी नहीं रहती और उन्हें चारों[1] आवश्यकताओं की कमी नहीं रहती।

नालदं विहार में कुछ काल तक रहकर आचार्य सुयेन-च्वांग तीर्थ स्थानों के दर्शन-पूजन के निमित्त राजगृह गया। राजगृह का प्रचीन नगर वही है जो इस समय 'कियु-शी-के-ला-पो-लो' (कुशाग्रपुर) के नाम से प्रसिद्ध है। यह मगध के मध्य में है। प्राचीन काल में कई रोजे यहाँ रह चुके हैं। यहाँ सुगंधित घास[2] होती है। इसी से इसका नाम कुशाग्रपुर पड़ा है। यह नगर चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा है और ये पहाड़ियाँ दीवार का काम देती हैं। पश्चिम की ओर एक पतले दर्रे से आने का माग है, परन्तु उत्तर की ओर द्वार चौड़ा है। भूमि उत्तर से दक्षिण ओर चौड़ी और पूर्व से पश्चिम ओर सँकरी है। इसकी परिधि १५० ली होगी। इसी के भीतर एक दूसरा छोटा नगर है। उसके खण्डहर ३ ली परिधि में हैं। चारों ओर कनक के वृक्ष हैं जो साल भर फूला करते हैं। इस फूल के दल सोनहले रंग के होते हैं। राजधानी की सीमा के उत्तर, बाहर एक स्तूप है। यहीं राजा अजातशत्रु के कहने पर देवदत्त ने रत्नपाल नामक मस्त हाथी को भगवान पर छोड़ा था।

राजगृह

स्थान के उत्तर-पश्चिम एक स्तूप है। यहीं सारिपुत्र ने अश्वजित नामक भिक्षु को धर्म का उपदेश करते सुना था जिसके फल स्वरूप उसे अर्हत पद प्राप्त हुआ था।

इसके पास ही उत्तर ओर एक बड़ी गहरी खाँई है। यहीं विधर्मियों के कहने पर श्रीगुप्त ने भगवान को विष मिला भोजन देकर उन्हें आग में ढकेलना चाहा था।

---

[1] भोजन, वस्त्र, औषधि, बिछावन। [2] कदाचित् 'खस' से तात्पर्य है।

खाँई के उत्तर-पश्चिम नगर के एक कोने में एक स्तूप है। यहीं महाचिकित्सक (महावैद्य) जीवक ने भगवान के लिये उपदेश गृह का निर्माण कराया था। इसी उपदेश गृह के निकट जीवक का आवास था जो अब भी है।

कुशाग्रपुर के उत्तर-पूर्व १४ या १५ ली जाकर आचार्य 'कि-लि-तो-किउ-तो' (गृद्धकूट) पहुँचा। यह पर्वत छोटी-छोटी टीवरियों का है। उत्तरी शिखर औरों से ऊँचा है और दूर से गृद्ध की आकार का देख पड़ता है। यह एक ऊँची अट्टालिका की भाँति भी दिखाई पड़ता है। इसी से इसका नाम गृद्धकूट पड़ा। यहाँ के सोते स्वच्छ जल के हैं। पर्वत भी अपने ढंग का एक ही है। इस पर वृक्ष और हरियाली खूब है।

गृद्धकूट

तथागत अपने जीवनकाल में यहाँ बहुत रहा करते थे। यहीं उन्होंने 'फॉ-ह्वा' (सद्धर्म पुण्डरीक), 'त-पन-जो' (महाप्रज्ञा) तथा अन्य बहुत से सूत्रों का उपदेश किया था।

कुशाग्रपुर के उत्तरीय फाटक से होकर १ ली जाने पर कलंद (करण्ड) का वेणु वन मिलता है। यहाँ अब भी एक ईंटों का मकान है।

करण्ड-वेनु-वन

यहीं भगवान बुद्ध पहले कभी-कभी ठहरते थे। यहीं तथागत ने विनय के नियम बनाये थे। इस वन के मालिक का नाम करंड था। पहले उसने यह वन विधर्मियों को धर्मार्थ दिया था परन्तु पीछे भगवान का उपदेश सुनकर उसे अपने किये पर पछतावा हुआ कि उसने तथागत को वन क्यों नहीं दिया। भूमि देवता ने यह सुनकर ऐसा उपद्रव मचाया कि विधर्मी डर गये। तब देवता ने उन्हें भगाने के लिए उनसे कहा, "इस वन का मालिक इसे तथागत को अर्पण करना चाहता है। तुम लोग जल्दी यहाँ से भाग जाओ।" विधर्मी अपनी व्याकुलता छिपाकर भाग खड़े हुए। तब उस वन का स्वामी बड़ा प्रसन्न हुआ

और उसने एक विहार बनवाया। जब वह बन गया तो उसने भगवान से प्रार्थना की कि वे आकर यहाँ रहें। तथागत ने यह स्वीकार कर लिया।

इस वन के पूरब में एक स्तूप है। यह अजातशत्रु राजा का बनवाया है। तथागत के परिनिर्वाण के पश्चात राजाओं को उनके शरीरावशेष का भाग मिला। अजातशत्रु ने अपने भाग को लेकर एक स्तूप बनवाया कि लोग इसकी पूजा कर सकें। अशोक राजा को बड़ी इच्छा थी कि वह प्रत्येक स्थान पर स्तूप निर्माण करावे। इसलिए उसने यह स्तूप खुदवाकर उसमें से धातु निकलवा लिया। परन्तु उसने थोड़ा सा हिस्सा रहने दिया। इसमें इस समय भी ज्योति निकला करती है।

प्रथम संघ

वेणु-वन के दक्षिण-पश्चिम ५ या ६ ली पर पर्वत के किनारे एक दूसरा वन है। वह भी इसी प्रकार का है। इसमें भी एक विहार है[1]। यहीं महा-कश्यप ने ९९९ अर्हतों को लेकर भगवान के निर्वाण के पश्चात् त्रिपिटक का संकलन किया था। इस अवसर पर बहुत से भिक्षु एकत्र हुए थे। कश्यप ने उनसे कहा था, "उपस्थित लोगों में से यहाँ वही लोग रहें जो तीनों विद्याओं के ज्ञाता हों और जिनमें छः सिद्धियाँ हों और जिसने भगवान के उपदेशों का बिना त्रुटि और भूल के अध्ययन किया हो। शेष लोग अपने-अपने स्थान लौट जाँय। इस प्रकार यहाँ केवल ९९९ व्यक्ति रह गये जो अर्हत थे और विद्याओं के ज्ञाता थे। इसपर कश्यप ने आनंद से कहा, "आपने अभी अपना राग नहीं छोड़ा है आप यहाँ रहकर इस धर्म संघ को दूषित न करें।"

आनंद लज्जित होकर चले गये। रात को किसी प्रकार एकाग्र मन से आनन्द ने तीनों लोकों के बंधन से मुक्ति प्राप्त की और अर्हत हो गये। तब लौटकर आनन्द ने संघ के द्वार पर सादर प्रणाम किया।

---

[1] सत्तपन्नी गुफा नाम था।

कश्यप ने पूछा, "क्या तुम बंधनमुक्त हो गये ?"

आनंद ने उत्तर दिया, "हाँ"। तव उन्होंने कहा, "यदि यह वात है तो द्वार खोलने की क्या आवश्यकता है। तुम भीतर चले आओ।"

तव आनन्द द्वार के एक छोटे से छिद्र से भीतर पहुँचे और उन्होंने संघ को प्रणाम किया।

कश्यप ने उनका हाथ पकड़कर कहा, "मैं चाहता था कि तुम अपने राग से मुक्ति पा जाओ और अर्हत पद को प्राप्त हो। इसी हेतु तुम्हें संघ से अलग कर दिया गया था। अब तुम्हें यह जानकर मन में दुख न होगा।"

आनंद ने कहा, "यदि मुझे दुख होगा तो मैं राग से मुक्त किस प्रकार कहा जा सकता हूँ।" यह कहकर उन्होंने कश्यप को प्रणाम किया और वैठ गये।

तव लोगों ने वर्षावास के प्रथम १५ दिन विताये।

कश्यप ने आनन्द से कहा, "तथागत सदा तुम्हें संघ में शिष्य या श्रोता कहते थे और तुम धर्म के नियमों को जानते हो। इसलिए तुम उपदेश-पीठपर खड़े होकर सूत्र पिटक का उपदेश करो। इसमें सभी सूत्र आ जाते हैं।"

इस पर आनन्द ने आज्ञा स्वीकार कर ली और खड़े होकर, परिनिर्वाण पर्वत को प्रणाम कर उपदेश-आसन पर पहुँचकर उन्होंने सूत्रों का पाठ किया। संघ ने उनको लिपिवद्ध किया। इसके पश्चात कश्यप ने उपाली को विनय पिटक सुनाने को कहा जिसमें आचार नियमों का संग्रह था।

इसके पश्चात स्वयं कश्यप ने अभिधर्मपिटक सुनाया जो शास्त्रों की व्याख्या है। शेष तीन मास में तीनों पिटकों का संग्रहकर उन्हें 'पीता' (ताड़ पत्र) पर लिखकर उन लोगों ने सबके लिये चारों ओर वँटवा दिया।

तव भिक्षु लोग आपस में कहने लगे, "हम लोग अपने संग्रह का

नाम धर्म-फल या बुद्धानुग्रह रक्खें क्योंकि हमारे इन सब के सुनने से यही बात होती है।"

कश्यप इस संघ के स्थविर थे इसलिए इस संग्रह का नाम 'स्थविर निकाय' पड़ा।

इस स्थान के पश्चिम २० ली पर एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया है। यहीं महासंघिक परिषद् एकत्र हुई थी।

महासंघिक

कश्यप के संघ में जिन्हें प्रवेश नहीं मिला था वे ही श्रमण और भिक्षु यहीं सहस्रों की संख्या में एकत्र हुए थे और उन लोगों ने आपस में मंत्रणा की थी, "तथागत् के जीवन काल में हमारा केवल एक ही स्वामी था परन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् लोगों ने सर्वसम्मत होकर हमें अलग कर दिया है। हम लोग भी क्यों न भगवान के उपदेशों का एक संग्रह करें।" यह सोचकर उन लोगों ने सूत्र पिटक, विनय पिटक, अभिधर्म पिटक, संयुक्त पिटक, और धारणी पिटक—इन पाँच पिटकों का संग्रह किया।

इस संघ में यती, गृही—सभी थे इसलिए इसका नाम महासंघिक पड़ा।[1]

यहाँ से उत्तर-पूर्व ३ या ४ ली चलकर लोग राजगृह नगर पहुँचे। नगर की प्राचीर गिर गई थी परन्तु नगर के भीतर दीवारें अब भी खड़ी हैं।

राजगृह

इसकी परिधि २० ली होगी और इसमें एक ही द्वार है।

जब विंवसार राजा यहाँ रहते थे तो उस समय यहाँ घनी आबादी थी और मकान भी पास-पास थे। इस कारण जल्दी-जल्दी आग लगती

---

[1] यह वृत्तान्त 'महासंघिक निकाय' के वैशाली में संगृहीत होने वाले वृत्तान्त से भिन्न है।

थी। अतः राजा ने यह नियम बना दिया कि जिस किसी की असावधानी से आग लगेगी वह नगर से निकाल दिया जायगा और उसे 'श्मशान' में रहना पड़ेगा।

इसके थोड़े ही दिन पीछे राज-प्रासाद में आग लगी और वह नष्ट-भ्रष्ट हो गया। तब राजा ने कहा, "मैं लोगों का शासक हूँ यदि मैं स्वयँ नियम का पालन नहीं करता तो मैं औरों को भी इसका पालन नहीं करा सकता।"

तब उसने राजकुमार को राज्यभार संभालने का आदेश किया और स्वयँ श्मशान में रहने चला गया।

इस समय वैशाली के राजा ने सोचा कि राजा बिंबसार श्मशान में है उसे पकड़ लेना चाहिए। यह सोच कर उसने सेना बुलाई। रक्षकों को यह समाचार मिला। उन्होंने राजा से निवेदन किया। उसने अपने आवास को चारों ओर से सुदृढ़ करा दिया। राजा स्वयँ यहाँ पहले-पहल आकर बसा था इससे इस नगर का नाम राजगृह पड़ा। यही नया नगर है। पीछे से अजातशत्रु ने भी अपनी राजधानी यहीं रखी—इस प्रकार यह अशोक के समय तक राजधानी रही। अशोक अपनी राजधानी पाटलीपुत्र ले गया और उसने यह स्थान (राजगृह) ब्राह्मणों को दान कर दिया। इस समय नगर में १००० ब्राह्मण परिवार रहते हैं।

राजनगर में दक्षिण-पश्चिम कोने पर एक स्तूप है। यह उस स्थान पर है जहाँ पर ज्योतिष्क नामक सेठ का आवास था। उसी के निकट वह स्थान है जहाँ राहुल ने दीक्षा ली थी।

नालंद विहार

नालंद विहार के उत्तर-पश्चिम एक बड़ा विहार है जो २०० फुट ऊँचा है। यह बालादित्य राजा का बनवाया है। यह बड़ी सुन्दरता से अलंकृत किया गया है और इसकी शोभा भव्य है। इसमें भगवान की एक प्रतिमा है जो उसी ढङ्ग की है जैसी बोधि वृक्ष के नीचे वाली प्रतिमा है। विहार के उत्तर-पूर्व एक

स्तूप है। यहीं भगवान ने सात दिनों तक धर्म का उपदेश किया था।

उसके उत्तर-पश्चिम वह स्थान है जहाँ विगत् चारों बौद्ध बैठे थे।

शीलादित्य का विहार

उसके दक्षिण एक ताम्रमंडित विहार है जिसे राजा शीलादित्य ने बनवाया था। इसका काम अभी समाप्त नहीं हुआ था पर जितना हो गया है उससे पता चलता है कि यह समाप्त होने पर १०० फुट या इससे कुछ अधिक ऊँचा होगा।

यहीं से २०० पग पर पूर्व दिशा में भगवान की ८० फुट ऊँची ताँबे की प्रतिमा है। इसके ऊपर छः खण्डों का छाजन है। इसे प्राचीन काल में पूर्णवर्म्मा ने बनवाया था।

यहाँ से पूर्व दिशा में कई ली चलकर आचार्य उस स्थान में पहुँचा जहाँ बिंबसार राजा ने बहुत से मनुष्यों को साथ लेकर भगवान का स्वागत किया था और उनका पहले-पहल दर्शन किया था। उस समय भगवान बोधिज्ञान प्राप्त कर राजगृह की ओर आ रहे थे।

यहाँ से ३० ली पूर्व दिशा में जाकर इन्द्र-शील गुहा पर्वत मिला। इसके पूर्वी पहाड़ी पर एक संघाराम के सामने एक स्तूप है जिसका नाम 'हँस' है।

इन्द्रशील गुहा

प्राचीन समय में यह संघाराम हीनयान के 'क्रमिक श्रेणी' वालों को दिया गया था। ये लोग तीन पवित्र व्यंजनों के व्यवहारों का निषेध नहीं करते थे। एक दिन वहाँ का कर्मदान खाद्य सामग्री के न होने पर बड़ी चिन्ता में पड़ा कि भिक्षुवों को क्या भोजन दूँगा। इतने में हंसों की एक धाँग आकाश में उड़ती हुई निकली तो उसने यों ही कहा, "आज भिक्षुओं को खाने को कुछ नहीं है यदि तुम लोग इस पर ध्यान दो।" यह सुनकर हंसों का नायक ऊपर से गिर पड़ा। भिक्षु लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बड़े घबराये। सब भिक्षुओं को समाचार मिला। वे यह सुनकर स्तब्ध हो गये और दुख से आपस में कहने लगे, "यह बोधिसत्व है इसका माँस कौन खा सकता है?" उनकी

आँखो में आँसू भर आये और वे डर गये। जब तथागत ने क्रमिक श्रेणी की शिक्षा का सिद्धान्त निश्चय किया था तो उन्होंने यह निषेद्ध किया था कि उनके पूर्वकथन को अमिट न समझ लेना चाहिए।[१] और उन्हें ने समझाकर कहा था कि यह समझना मूर्खता है कि इसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं है। इसीलिये भगवान ने सतर्क कर दिया था।

उस समय से उन भिक्षुओं ने महायान को स्वीकार किया और तीन प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों का त्याग कर दिया।

उन लोगों ने हंस की समाधि के लिए एक स्तूप बनवाया और इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा का स्मारक एक चिन्ह स्थापित किया। स्तूप का निर्माण इस प्रकार हुआ।

आचार्य सूयेन-च्वाँग तीर्थों का पर्यटन करके नालंद विहार लौट गया और वहाँ पहुँचकर उसने महास्थविर शीलभद्र से प्रार्थना की कि सहस्त्रों श्रोताओं के सामने योगशास्त्र की व्याख्या करें। व्याख्या समाप्त होने पर एक ब्राह्मण संघ के बाहर पहले ज़ोर से रो उठा और पीछे हँसने लगा।

नालन्द-प्रत्यागमन

लोगों ने उससे ऐसा करने का कारण पूछा। उसने उत्तर में कहा, "मैं पूर्व भारत का निवासी हूँ। एक बार मैंने पोतारक पर्वत पर अवलोकितेश्वर की मूर्ति के पास प्रार्थना की थी कि मैं राजा हो जाऊँ। बोधिसत्व ने मुझे दर्शन देकर कहा, "इस प्रकार की प्रार्थना मत करो। अमुक वर्ष में अमुक मास के अमुक तिथि को महास्थविर शीलभद्र एक चीन के भिक्षु को योगशास्त्र का उपदेश देंगे। तुम वहाँ जाकर

---

[१]तात्पर्य यह है कि भगवान बुद्ध ने धीरे धीरे माँस खाना छोड़ने को कहा था पर उसका अर्थ यह नहीं था कि हम लोग अपने मन से माँस बिल्कुल न छोड़ दें। यदि चाहें तो एकदम छोड़ सकते हैं। भगवान ने कृत, दृष्ट, और उद्दिष्ट माँस का निषेध किया था। अनु०।

उसे सुनना। इसे सुनने के पश्चात तुम बोधिसत्व शाक्य का दर्शन कर सकोगे। राजा होकर क्या करोगे ?"

"अब," उसने कहा, "चीन का भिक्षु भी आ गया, महास्थविर उसे योगशास्त्र का उपदेश भी दे रहे हैं। अब भविष्यद्वाणी पूरी हुई। इसी से मैं रो पड़ा और फिर हँसने लगा।"

इस पर महास्थविर ने उस व्यक्ति को वहाँ १५ मास रहकर योग-शास्त्र की व्याख्या सुनने का आदेश किया। इसके पश्चात् शीलभद्र ने उसे एक ब्राह्मण के साथ शीलादित्य राजा के पास भेज दिया। राजा ने उसे तीन गाँव आभोग के लिये दिये।

अध्ययन

आचार्य ने नालंद में रहकर तीन बार योगशास्त्र की व्याख्या सुनी। एक बार न्यायानुसार-शास्त्र और 'हिन-हियाँग-तुई-फा-मिंग' की, हेतु विद्या और शब्द विद्या और 'त्स-लियाँग' शास्त्र की दो बार, प्रणयमूल शास्त्र-टीका और शतशास्त्र की तीन बार व्याख्या सुनी। कोष विभाषा और षट्पदा-भिधर्म शास्त्र की व्याख्या आचार्य ने काशमीर के कई स्थानों में सुनी थी परन्तु यहाँ आकर उसकी इच्छा उन्हें फिर एक बार पढ़ने और शंकाएँ निवारण करने की हुई। इसे करके उसने ब्राह्मण ग्रंथों और व्याकरण अर्थात् शब्द-शास्त्र पढ़ना आरंभ किया। ये प्राचीन ग्रंथ थे। इनके लेखकों का पता न था।

कल्प के आरंभ में ब्रह्म राजा इसे घोषित करते हैं और देवता और मनुष्यों से कह देते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा से घोषित होने के कारण मानव लोग इसे 'फान' या ब्रह्म-लिपि कहते हैं।[1] इस ग्रंथ में लाखों श्लोक होते हैं।

---

[1] तात्पर्य यह है कि भारतीय लोग अपनी लिपि को 'ब्राह्मी' कहते हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा देववाणी है। बील का अनुवाद स्पष्ट नहीं है। अनु०

इसी को प्राचीन भाष्यकार व्याकरण शास्त्र कहते हैं। परन्तु इसका उच्चारण पूर्ण नहीं होगा जब तक इसे 'व्याकरणम्' न कहा जाय यह शब्द शास्त्र का दूसरा नाम है। इसमें भाषा के सिद्धान्तों का विषद् वर्णन है। इसी से इसे व्याकरण कहते हैं।

पाणिनि

वैवर्त कल्प के आरंभ में ब्रह्मा ने प्रथम उसका उपदेश दिया। उस समय इसमें दस लाख श्लोक थे। पीछे से वैवर्त-सिद्ध-कल्प के आरंभ में शक्र राजा ने इसे एक लाख श्लोकों में लिखा। इसके पश्चात उत्तर भारत में गांधार देश के शालातुर ग्राम के निवासी एक ब्राह्मण ने, जिसका नाम 'पाणिनि' था उसे ८००० श्लोकों में किया। यही ग्रन्थ इस समय भारत में प्रचलित है।

पीछे से एक दक्षिण भारत के ब्राह्मण ने वहाँ के राजा के कहने पर उसे २५०० श्लोकों में संक्षेप किया था। यह ग्रन्थ अधिक प्रचलित है। इसका व्यवहार सीमा प्रान्तों में अधिक है परन्तु भारत के अच्छे विद्वान व्यवहार में इस पर नहीं निर्भर करते। भारत के शब्दों और अक्षरों से संबंध रखनेवाला यही मुख्य ग्रन्थ है। इसी में उसकी शाखाओं, भेदों और सम्बन्धों का वर्णन है।

एक छोटा व्याकरण शास्त्र है जिस में १००० श्लोक हैं, एक धातु पाठ है जिसमें ३०० श्लोक हैं। दो गण पाठ हैं जिनमें मंडक ३००० श्लोकों का हैं। दूसरा उणादि है जिसमें २५०० श्लोक हैं। मूलशब्दों और विभक्ति का अलग-अलग वर्णन है। एक ८०० श्लोकों का अष्ट-धातु (धातु-वृत्ति) भी है—इसमें 'सुवन्त' और 'तिंडत' का वर्णन है। ये सब व्याकरण शास्त्र कहे जाते हैं।

कर्तृ वाच्य और कर्म वाच्य के भेद हैं। उनके ये नियम हैं। पहला तिंडत् वाक्य कहलाता है। इस के १८ रूप होते हैं। दूसरा सुवन्त वाक्य है। इसमें २४ होते हैं। 'तिङत' का प्रयोग सुष्ठु रचनाओं में होता है। उसका प्रयोग साधारण काव्य (सरस काव्य) के लिए कम होता है।

इन रूपों का प्रयोग सभी रचनाओं में समान होता है। 'तिंडत्' रूप की १८ विभक्ति दो प्रकार की होती हैं। परस्मैपदी और आत्मनेपदी। इस प्रकार कुल १८ रूप होते हैं। प्रत्येक पुरुष में तीन वचन होते हैं—एक वचन द्विवचन और बहुबचन और तीन भेद पुरुष के होते हैं। इस तरह कुल ९ हुए। परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातुओं में धातु तो एक ही होता है पर उनके रूप में अन्तर होता है। यह मतलब देखते हुए हमें स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत भाषा कैसी सुन्दर है। इसमें भावों को व्यक्त करने में कितनी सुविधा है। कहीं भ्रम नहीं हो सकता।[1]

विभक्तियों के २४ भेदों की बात यों है। प्रत्येक संज्ञा के ८ कारक होते हैं और प्रत्येक कारक के तीन वचन। प्रत्येक संज्ञा के तीन लिंग होते हैं—पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। कारक ये है—कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण और सम्बोधन। इन्हे प्रथमा द्वितीय, तृतीया आदि भी कहते हैं।

मान लो एक शब्द पुरुष है। इसका रूप यों चलेगा—प्रथमा में —पुरुषः, पुरुषौ-पुरुषाः—तीन वचनों के अनुसार द्वितीया में—पुरुषां पुरुषौ पुरुषान् अर्थात् कर्म कारक में। इस प्रकार तृतीया में पुरुषेण, पुरुषाभ्याम्, पुरुषैः, सम्प्रदाय में पुरुषाय, पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः, अपादान में पुरुषात पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः, सम्बन्ध या षष्टी में पुरुषस्य, पुरुषयोः, पुरुषाणाम्, अधिकरण या सप्तमी में पुरुषे, पुरुषयोः, पुरुषेषु और सम्बोधन में हे पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों से शेष समझ में आ जाता है। सब का वर्णन कठिन है।

आचार्य सुयेन-च्वांग ने व्याकरण का भली भांति अध्ययन किया

---

[1] इस अंश का अनुवाद विस्तृत और भ्रमात्मक था। अतः स्वतंत्र रूप से उसका भाव समझा दिया गया है। अनु०।

तथा अन्य आचार्य से साहित्य अध्ययन कर उसने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। संस्कृत अध्ययन करने के पश्चात् आचार्य ने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया और उसने ब्राह्मण ग्रंथ का अध्ययन किया। इस प्रकार उसे पाँच वर्ष बीत गये।

हिरण्य पर्वत

यहाँ से आचार्य फिर हिरण्य पर्वत जनपद गया और रास्ते में 'कपोतिक' (क-पो-ती) संघाराम में पहुँचा। इसके दो या तीन ली दक्षिण एक निराली पहाड़ी है। यह ऊँची और बीहड़ है। इसके शिखर ऊँचे हैं। यहाँ की हरियाली, स्वच्छ जल वाले कुण्ड और सुगंधित फूलों आदि के कारण इस स्थान की प्रसिद्धि है। यहाँ बहुत से पवित्र स्थान बने हैं। उनमें से अनेक चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं।

खुले मैदान में एक विहार है जिसमें अवलोकितेश्वर बुद्ध की एक चन्दन की प्रतिमा है। यह देखने में बड़ी प्रभावशाली और भक्ति उत्पन्न करनेवाली है। यहाँ बहुत से उपासक थे जो पक्ष भर उपवास-व्रत करके पूजा-पाठ किया करते थे। जो सच्चे भक्त होते हैं उन्हें अवलोकितेश्वर के दर्शन हो जाते हैं और उनकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। लोग कहते हैं कि कितनों को बोधिसत्व का साक्षात दर्शन मिला है। इसी से यहाँ उपासकों की संख्या बढ़ गई है।

यहाँ के पुजारियों ने यह सोचकर कि भीड़-भाड़ में मूर्त्ति पर आघात न पहुँचे--इसी हेतु उन लोगों ने उसके चारों ओर कठघरा बनवा दिया है। यह कठघरा मूर्त्ति से सात पग पर बना है। इसमें लोहे के छड़ लगे हैं। उपासक बाहर से पूजा करते और बाहर ही से फूल फेक देते हैं। जिसकी माला या फूल मूर्त्ति के हाथ या गले आदि पर पड़कर रुक जाती है वे अपने को धन्य समझते हैं और यह समझते हैं कि बोधिसत्व ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

आचार्य ह्युयेन-च्वांग ने पूजा के निमित फूल एकत्रकर माला बनाई और उसे लेकर प्रतिमा के निकट पूजा करने पहुँचा। उसने बड़ी भक्ति से प्रणाम किया और स्तुति की और अपने में तीन प्रकार की कामना करके उसने अपनी माला फेंकी। पहली यह थी—यदि मैं विद्याध्ययन करके सकुशल अपने देश लौट जाने को हूँ तो मेरी माला भगवान के हाथ पर पड़े। दूसरी यह कि यदि मेरे पुण्य कर्मों के प्रभावों से मुझे तुषित धाम में मैत्रेय बोधिसत्व की सेवा के निमित्त जन्म मिलना हो तो मेरी माला बोधिसत्व की भुजाओं पर पड़े और तीसरी यह कि शास्त्रों के अनुसार संसार में अनेक जीव हैं जो कभी बुद्धत्व को नहीं प्राप्त कर सकते-- मुझे तो इतना ज्ञान नहीं कि मैं किस प्रकार का प्राणी हूँ, पर यदि सद्मार्ग पर चलकर जन्मांतर में भी मुझे कभी बोधिज्ञान प्राप्त होना हो तो मेरी माला भगवान बोधिसत्व के गले में पड़े।

इस प्रकार प्रार्थना और मन में संकल्प कर उसने तीनों मालाएँ फेंकी और उसकी सब मालाएँ उसकी कामना के अनुसार उसी स्थान पर पड़ीं। यह देखकर आचार्य आनन्द से फूला न समाया। उसके साथी और उपासक और विहार के भिक्षु आनन्द से ताली बजाने लगे और भूमि पर पैर पटकने लगे। लोगों ने कहा, "यह चमत्कार है। जब आपको बोधिज्ञान प्राप्त हो तो इस घटना का स्मरण कर हमारा अवश्य उद्धार कीजियेगा।"

हिरण्य जनपद

यहाँ से यात्राकर आचार्य हिरण्य जनपद पहुँचा। यहाँ दस संघाराम थे और उसमें ४००० भिक्षु थे। ये लोग अधिकतर 'हीनयान' का अध्ययन करते हैं। ये लोग सर्वास्तिवाद के अनुयायी हैं।

थोड़े दिन हुए सीमा प्रान्त के एक राजा ने यहाँ के राजा को गद्दी से उतार दिया और उसने यह नगर भिक्षुओं को दे दिया। इतना ही नहीं उसमें उसने दो विहार बनवा दिये। प्रत्येक में

१००० भिक्षु रह सकते हैं। यहाँ तथागत गुप्त और शांति सिंह नामक दो विद्वान भिक्षु थे। ये स्वास्तिवाद निकाय के अनुयायी थे। यहाँ वर्ष भर रहकर आचार्य ने विभाषा और न्यायानुसार शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया।

राजधानी के दक्षिण एक स्तूप है। यहीं भगवान ने तीन मास रहकर मनुष्यों और देवताओं को उपदेश दिया था। इसी के पास चारों बुद्ध के चलने फिरने के स्थान थे। जनपद की पश्चिमीय सीमा पर गंगा नदी के दक्षिण एक निर्जन पहाड़ी है। यहीं प्रचीन काल में भगवान ने वर्षावास के तीन मास विताये थे और वकुल नामक यक्ष को परास्त किया था।

पहाड़ी के दक्षिण-पूर्व एक ऊँची पहाड़ी की ओट में एक वड़ी चट्टी है जिसपर भगवान वैठा करते थे। यहाँ स्मारक-चिन्ह हैं। ये चिन्ह एक इंच गहरे हैं। इनकी लम्बाई पाँच फुट दो इंच और चौड़ाई चार फुट एक इंच है।

यहाँ पत्थर में वह गड्ढा भी था जो एक इंच गहरा है। यहाँ भगवान अपना जलपात्र रखा करते थे। यह अष्ट दल पुष्प की भाँति दिखाई पड़ता है।

इस जनपद के दक्षिण दिशा में जंगल-ही-जंगल है। उसमें बड़े-बड़े हाथी रहते हैं।

अध्याय ४

चंपा की यात्रा से कामरूप के राजा द्वारा निमंत्रित होने तक।

यहाँ[1] से गंगा नदी के दक्षिण तट से होकर पूर्व दिशा में ३०० ली की यात्राकर आचार्य 'चंपा' जनपद पहुँचा। यहाँ दस संघाराम हैं जिनमें हीनयान के अनुयायी ३०० भिक्षु थे।

चंपा

नगर की प्राचीर ईंटों की है और कई 'चाँग' ऊँची है। नगर के चारों ओर खाँई गहरी और चौड़ी है। इससे नगर भली भाँति सुरक्षित है।

प्राचीन काल में, कल्प के आरंभ में, लोग गुफाओं में रहते थे। पीछे से एक स्वर्ग की देवी वहाँ आकर गंगा तट पर स्नान करने लगी। दैवी प्रभाव से उसे चार पुत्र हुए। इन्ही को उसने जंबूद्वीप बाँट दिया। उन सब ने अपने अपने अंश की सीमा निर्धारित की और नगर बसाये। यह नगर उन चारों में से एक पुत्र की राजधानी थी।

इस जनपद की दक्षिणीय सीमा से सैकड़ों योजन पर पहाड़ी बन है जो बड़ा घना और बीहड़ है। यह २०० ली तक फैला हुआ है। यहाँ सैकड़ों जंगली हाथी फिरा करते हैं। इसी कारण हिरण्य और चंपा की गज सेनाएँ भी बड़ी हैं। वे लोग बराबर गजपति को हाथियों को पकड़ने भेजते हैं। यहाँ लोग उनसे रथ खींचने का काम लेते हैं। वृक

---

[1] हिरण्य जनपद से।

गैंडे और काले चीते[१] यहाँ बहुत हैं। अतः लोग वहाँ जाने की हिम्मत नहीं करते।

यहाँ के लोग कहते हैं कि प्राचीन समय में, बोधिसत्व के पूर्व यहाँ एक ग्वाला रहता था जो बहुत से चौपायों को चराया करता था। जब वह पशुओं को लेकर वन में पहुँचता तो उनमें से एक साँड अपने आप कहीं अकेले चला जाता और कुछ समय तक जाने कहाँ रहता और संध्या समय वह लौट कर पशुओं में मिल जाता। उस समय वह हृष्ट पुष्ट और सुन्दर दीख पड़ता और उसका रांभना एक विचित्र प्रकार का होता था। झुंड के अन्य पशु उससे भय खाते और उसके समीप न जाते। ऐसा ही नित्य होता था। इस पर ग्वाले को आश्चर्य होने लगा और उसने चुपके चुपके इसका पता लगाना चाहा। वह उस पर आँख रखने लगा। एक दिन जब वह साँड गिरोह से अलग होकर चला तो वह ग्वाला छिपकर उसके पीछे-पीछे चला। उसने देखा कि वह साँड एक पहाड़ के दर्रे में घुस गया। ग्वाला भी उसके भीतर पहुँचा और उसके पीछे-पीछे चला। चार पाँच ली घाटी में चलने पर उसे एकाएक एक बड़ा प्रकाश दिखाई पड़ा और वन का एक भाग उसके कारण प्रज्वलित दीखने लगा। यहाँ बहुत से रंग विरंगे फूल थे। कलियों और फलों से लदे वृक्ष चमकने लगे। आँखें चकाचौंध हो गईं। ऐसा अपूर्व दृश्य अलौकिक था।

अद्भुत फल

ग्वाले ने देखा कि बैल एक स्थान पर चरने लगा। घास पीले रंग की और सुगंधित थी। ऐसी घास मनुष्य-लोक में नहीं देखने में आती। वृक्षों पर पीले, लाल सोनहले

---

[१] इस प्रकार के काले चीते ने उस समय फाहियान पर भी आक्रमण किया था जब वह राजगृह में गृद्धकूट पर चढ़ रहा था। संभव है इससे तात्पर्य भालू से हो? अनु०

फल लदे थे। ये बड़े बड़े और सुगंध भरे थे। ग्वाले ने उनमें से एक तोड़ लिया। उसने लालचवश तोड़ तो लिया पर भयवश उसे खाने का साहस न कर सका। थोड़ी देर में बैल बाहर चला गया। ग्वाला भी पीछे-पीछे चला। वह जैसे ही दर्रे से निकलने लगा कि एक राक्षस ने उससे फल छीन लिया। ग्वाले ने यह समाचार एक वैद्य से कहा और उसे फल का वर्णन सुनाया। वैद्य ने कहा, "तुम उसे बिना समझे खाना मत। पर किसी तरह छल कर वह फल ले आओ।"

दूसरे दिन ग्वाला बैल के पीछे-पीछे फिर वहाँ पहुँचा और उसने एक फल तोड़कर अपने वस्त्रों में छिपाकर चलने की इच्छा की। राक्षस फिर फल छीनने को पहुँचा। ग्वाले ने चट उस फल को मुँह में रख लिया। राक्षस ने उसका गला दबाया, इतने में वह ग्वाला उस फल को निगल गया। पेट में पहुँचते ही उसका शरीर फूलने लगा और वह दर्रे से निकल न सका। उसका सिर केवल बाहर निकल सका। इस प्रकार वह वहीं पड़ा रहा।

उसके संबधी उसे ढूँढ़ने निकले और उसे इस दशा में वहाँ पा कर वे बड़े अचंभे में आ गये। उसके निकट पहुँच कर उन्होंने उससे हाल पूछा। उस ग्वाले ने टूटे-फूटे वाक्यों में अपना हाल कहा। वे सब घर आये और बहुत से आदमियों को साथ ले कर उसे निकालने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु कुछ न हो सका।

उस देश के राजा ने उसकी दुर्दशा का समाचार सुन स्वयं उसे देखने गया और विपत्ति आई जान कर उसने आदमियों को भेजा कि उसे खोद कर निकालें। पर इस पर भी कुछ न हो सका।

इस प्रकार महीनों और वर्षों बीत गये और वह ग्वाला धीरे-धीरे पत्थर हो चला। परन्तु उसका स्वरूप मनुष्य ही का सा रहा। कुछ दिनों बाद वहाँ एक दूसरा राजा पहुँचा। उसने उस मायावी-फल की बात सुनकर अपने मंत्रियों से कहा, "फल खाने से यह मनुष्य पत्थर

हो गया है तो अवश्य उसके शरीर में औषधिगुण आ गये होंगे। यह देखने में तो पत्थर ही है पर उसमें निश्चय चमत्कारिक गुण होंगे। तुम लोग आदमियों को भेजो कि हथौड़ी और छेनी लेकर उसे पहाड़ काट कर बाहर निकालें।"

मंत्रीगण ने राजा की आज्ञा स्वीकार कर, स्वयं संगतराशों को लेकर वहाँ पहुँचे। दस दिन तक वे परिश्रम करते रहे पर तनिक भी उसे न काट सके। यह अभी तक ज्यों-का-त्यों वहीं पड़ा है।

कज्जूगृह

यहाँ से ४०० ली पूर्व की ओर यात्राकर आचार्य सुयेन-च्वांग 'कि-शू-हो-की-लो' (कज्जूगृह) जनपद पहुँचा। उसने पवित्र स्थानों का दर्शन किया। यहाँ छ या सात संघाराम हैं जिनमें ३०० भिक्षु हैं।

पुण्ड्रवर्धन

यहाँ से पूर्व की ओर जाकर गंगा पारकर ६०० ली की यात्राकर लोग 'पु-न-फ-तन-न' (पुण्ड्रवर्धन) पहुँचा। यहाँ आचार्य ने पवित्र स्थानों का दर्शन किया। यहाँ १२ संघाराम हैं और उनमें हीनयान और महायान के ३०० भिक्षु रहते हैं।

नगर के २० ली पश्चिम 'पो-ची-श' संघाराम हैं। इसके प्रकोष्ट और बरांडे बड़े ऊँचे और सुन्दर बने हैं। यहाँ ७०० भिक्षु रहते हैं। इसके निकट एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया है। प्राचीन काल में यहीं रहकर तथागत बुद्ध ने तीन मास तक धर्म का उपदेश किया था। उस स्तूप से प्रकाश निकला करता है। उसी के पास चारों बुद्ध के स्मरण-चिन्ह भी हैं।

कर्ण सुवर्ण

उसी के पास एक विहार है जिसमें अवलोकितेश्वर की प्रतिमा है। जो यहाँ भक्तिपूर्वक पूजा करता है उसकी इच्छापूर्ति होती है। यहाँ से दक्षिण-पूर्व ९०० ली जाकर आचार्य 'कि-लो-न-सु-फ-ल-न' (कर्ण सुवर्ण) जनपद पहुँचा। यहाँ

१० संघाराम हैं जिनमें सम्मतीय संप्रदाय के अनुयायी हीनयान के उपासक ३०० भिक्षु रहते हैं।

उसके निकट दो संघाराम हैं जहाँ के भिक्षु मक्खन और या दूध का सेवन नहीं करते। यह देवदत्त की परंमपरागत शिक्षा है।

नगर के समीप एक संघाराम है जिसका नाम 'कि-तो-मो-ची' (रक्तमृत्तिका)[1] था। प्राचीन काल में बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पूर्व इस देश में दक्षिण भारत का एक श्रमण घूमता-फिरता आया और उसने विधर्मियों को परास्त किया। यह ताम्र पत्र से अपने शरीर को ढँका रखता था। इसके नाम पर यहाँ के राजा ने यह विहार बनवाया।

इसी के पास अशोक राजा का निर्माण कराया हुआ एक स्तूप है। इस स्थान पर भगवान ने प्राचीन काल में सात दिन तक उपदेश किया था।

यहाँ से दक्षिणपूर्ण जाकर 'समतट' (समुद्रतट) जनपद मिला।

समतट

इसकी सीमा महासमुद्र तक फैली है। उसके कारण यहाँ की जलवायु मातदिल और नातिशीतोष्ण है। यहाँ लगभग २० संघाराम हैं जिनमें २००० भिक्षु रहते हैं। ये लोग **'स्थविर-निकाय'** को मानते हैं। देवताओं के उपासक विद्यर्थी भी बहुसंख्या में हैं।

नगर से निकट ही एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया है। यह वह स्थान है जहाँ प्राचीन समय में भगवान ने देवताओं और मनुष्यों के निमित्त सात दिन तक धर्म का उपदेश दिया था।

यहाँ से थोड़ी दूर चलकर एक संघाराम मिलता है जिसमें ८ फुट ऊँची भगवान की एक हरित-नील-लोहित प्रस्तर की प्रतिमा है। यह देखने में बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण है। इसमें से ऐसी मनोहर गंध

---

[1] सिउकी (यात्रा बृत्तान्त) में 'लो-तो-वी-ची' (रक्त विट्टि) लिखा है।

निकलती है जो सारे संघाराम में नव पुष्प की सुगन्ध की भाँति फैल जाती है। कभी-कभी उससे पाँच भिन्न-भिन्न रंगों का दिव्य प्रकाश निकलता है। यह सुनकर और देखकर लोगों के धार्मिक विश्वास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

यहाँ से उत्तरपूर्व समुद्र के किनारे चलकर पर्वत की घाटी को पारकर आचार्य 'ची-ली-स-त-लो' (श्री-क्षेत्र) जनपद पहुँचा। यहाँ से दक्षिण-पूर्व समुद्र की खाड़ी में 'कामलंका' (पीगू) है। इसके पूर्व 'द्वारापति' (सनडोवे) जनपद है। उसके पूर्व में 'ईसानपुर'। इसके पूर्व में 'महाचंपा' (स्याम)। जनपद इसके पश्चिम में 'येन-मो-लो' (यमराज)[1]। इन छः जनपदों की सीमा पर समुद्र तथा पर्वत है। यद्यपि आचार्य सुयेन-च्वाँग वहाँ गया नहीं पर उसने वहाँ की रीति रिवाज के विषय में ज्ञान प्राप्तकर लिया था।

श्री-क्षेत्र

समतट जनपद से पश्चिम दिशा में ९०० ली जाकर आचार्य 'ताम्रलिप्ति' जनपद पहुँचा जो समुद्र की खाड़ी के किनारे है। यहाँ १० संघाराम हैं जिनमें १००० भिक्षु रहते हैं।

ताम्रलिप्ति

नगर के पास एक स्तूप २०० फुट ऊँचा था जो अशोक राजा का बनवाया था। इसी के निकट विगत चारों बुद्ध के चलने-फिरने के स्मारक-चिन्ह थे।

यहाँ आचार्य सुयेन-च्वाँग ने सुना कि समुद्र के बीच में एक 'सिंहल' नामक देश है। यहाँ 'स्थविर-निकाय' के अच्छे विद्वान हैं और वे योग शास्त्र की व्याख्या करने में बड़े प्रवीण हैं। यहाँ पहुँचने के लिए ७०० ली की समुद्र-यात्रा करनी पड़ती है।

सिंहल

---

[1] कदाचित् इससे तात्पर्य 'येन-मो-न-चो' (यवन जनपद) है। बील।

यह सुनकर आचार्य ने दक्षिण के एक भिक्षु से इस विषय में परामर्श किया। उसने बतलाया, "जिसे सिंहल देश जाना हो उसे जलमार्ग से जाना उचित नहीं। मार्ग में आँधी, तूफान, लहरों और यक्षों के कारण बड़ा कष्ट होता है। यदि जाना है तो पहले दक्षिण भारत के अन्तरीप के दक्षिण-पूर्व से जाओ। यहाँ से केवल तीन दिन का जलमार्ग पड़ता है। यद्यपि वहाँ तक पहुँचने में तुम्हें पर्वत और घाटियाँ पार करनी पड़ेंगी परन्तु फिर भी मार्ग में कोई डर नहीं है। दूसरी बात यह कि वहाँ जाते समय मार्ग में उड़ीसा आदि देशों के तीर्थ-स्थानों के दर्शन भी हो जायेंगे।

उड़ीसा

आचार्य तुरन्त दक्षिण-पश्चिम दिशा में उड़ीसा (उड्र) जनपद की ओर चल पड़ा। यहाँ १०० संघाराम थे जिनमें १०,००० के लगभग भिक्षु रहते थे। ये लोग महायान के उपासक थे। यहाँ विधर्मी भी थे जो देवताओं की उपासना करते थे। ये लोग साथ-साथ रहते थे। यहाँ दस स्तूप थे जो अशोक राजा के बनवाये थे। उनमें दैवी चमत्कार दिखाई पड़ते हैं।

इस जनपद की दक्षिण-पूर्वीय सीमा पर समुद्र तट है। यहाँ एक 'चि-ली-त-लो' (चरित्र) नामक नगर है। समुद्र मार्ग से व्यापार करनेवाले यात्री यहाँ आते-जाते रहते हैं।[1]

यहाँ से दक्षिण २०,००० ली पर सिंहल देश है। रात में जब आकाश साफ़ रहता है और बादल नहीं होते तो वहाँ के दंत-स्तूप के शिखर पर लगा हुआ रत्न चमकता हुआ दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है मानो आकाश में नक्षत्र चमकते हों।

यहाँ से दक्षिण-पश्चिम दिशा में जाकर एक बड़े वन को पारकर १२०० ली की यात्राकर आचार्य 'को-मु-तो' (कोन्योध)[2] जनपद पहुँचा।

---

[1]यह समुद्र तट का एक नगर था। यहीं से लोग नाव पर चढ़ाते थे और बाहर के व्यापारी यहाँ उतरते थे। [2]'गंजम' नगर ?

यहाँ से १४०० या १५०० ली घने जंगलों को पारकर 'कलिंग' जनपद मिला। यहाँ दस संघाराम हैं जिनमें स्थविर निकाय के ५०० भिक्षु रहते हैं। पहले उस देश की आबादी घनी थी पर एक पंच-सिधियों के सिद्ध ऋषि के क्रोद्ध में शाप देने से यहाँ जन-क्षय हो गया और बूढ़े, बच्चे कोई न बचे। पीछे से धीरे-धीरे और स्थानों से लोग आकर यहाँ बसे। फिर भी अभी तक यहाँ आबादी घनी नहीं हो पाई है।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम १८०० ली जाकर आचार्य 'दक्षिण कोशल' पहुँचा। यहाँ का राजा क्षत्रि था। वह बौद्ध धर्म का बड़ा भक्त है और विद्या और कला कौशल से बड़ी रुचि रखता है। यहाँ १०० संघाराम हैं जिनमें १०,००० भिक्षु रहते हैं। यहाँ बहुत से विधर्मी भी रहते हैं और यहाँ देव मन्दिर भी हैं।

दक्षिण कोशल

थोड़ी दूर पर दक्षिण की ओर एक प्राचीन संघाराम है। इसके निकट एक संघाराम है जो अशोक राजा का बनवाया है। प्राचीन काल में यहाँ तथागत ने अद्भुत चमत्कार दिखाकर विधर्मियों को परास्त किया था। इनके पीछे नागार्जुन बोधिसत्व यहाँ रहता था। इस समय यहाँ का शासक 'सो-तो-पो-हो' (सदवाह) नामक राजा था। यह नागार्जुन का बड़ा आदर करता था और उसकी आवश्यकताओं के लिए वह सभी वस्तुएँ भेजा था।

सिंहल का रहनेवाला देव बोधिसत्व उससे शंकासमाधान करने आया और वह आकर द्वार पर खड़ा हो गया और उसने प्रवेश की आज्ञा माँगी। द्वारपाल ने समाचार नागार्जुन से कहा। नागार्जुन उसका नाम सुन चुका था। उसने एक पात्र में जलभर कर एक शिष्य द्वारा उसके पास भेजा कि जाकर उसको दिखावे।

नागार्जुन

देव ने यह देखकर बिना कुछ कहे उसमें एक सूई डाल दी। शिष्य तब उस पात्र को लौटा लाया।

नागर्जुन यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा, "इस स्वच्छ जल से तात्पर्य मेरी विद्वत्ता से था। उसने इसमें एक सूई डाल दी है इसका अर्थ यह है कि मैं इसकी तह तक खोज करूँगा। यदि ऐसी बात है तो मैं उससे धर्म के सभी निहित और गूढ़ प्रश्नों पर विचार कर सकता हूँ जिसमें वह मेरे पश्चात विद्या का प्रकाश स्थिर रख सके।" उसने देव बोधिसत्व को बुला भेजा और उसे आसन देकर उससे वह बड़ी प्रसन्नता से बार्तालाप करने लगा। नागर्जुन ने कहा, "मैं अब वृद्ध हो गया हूँ। क्या विद्या के सूर्य को तुम ग्रहणकर सकोगे?"

देव बोधिसत्व ने उठकर उसके चरण छूये और कहने वह लगा, "यद्यपि आप के दास में इतनी योग्यता नहीं है पर आप की आज्ञानुसार आप के बाद आप के उपदेशों का प्रचार करने का वह प्रयत्न करेगा।"

इस देश में एक ब्राह्मण था जो इन-मिंग शास्त्र की व्याख्या करने में प्रवीण था। आचार्य ने एक मास के ऊपर यहाँ ठहरकर उससे शालियँग-लुन नामक शास्त्र का अध्ययन किया।

यहाँ से दक्षिण दिशा में जाकर एक बन पार करना पड़ा और ९०० ली दक्षिण-पूर्व यात्रा करके आचार्य 'आन्ध्र' जनपद पहुँचा। नगर के समीप एक विशाल संघाराम है। इसकी कड़ियाँ अलंकृत थीं। बड़े चौड़े आँगन थे। देखने में यह बड़ा भव्य और प्रभावोत्पादक लगता था। इसके सामने कई सौ फुट ऊँचा एक स्तूप है जिसे अर्हत अंचल ने बनवाया था।

आन्ध्र

संघाराम के दक्षिण-पश्चिम २०० ली पर एक निर्जन पहाड़ी है। उसके ऊपर एक पत्थर का स्तूप है। यहाँ बोधिसत्व 'चिन-ना' (जिन ? या युवन-जान ?) ने इन-मिंग शास्त्र (हेतु विद्या ?) की रचना की थी।

यहाँ से १००० ली दक्षिण जाने पर आचार्य 'धनकटक' देश पहुँचा। नगर के पूरब एक पहाड़ में एक पूर्वशिला नामक संघाराम है। पश्चिम की ओर एक दूसरा संघाराम है जिसे 'अवरशिला' कहते हैं। इन्हें यहाँ के किसी प्राचीन समय के राजा ने भगवान के लिये बनवाया था। राजा ने ता-हिया स्तूपों (उत्तर-भारत के) की शैली आदि का भली भाँति निरीक्षण किया था[1]। यहाँ के वन की शोभा आदि देख और इसे निर्जन, देवताओं से सुरक्षित स्थान समझ बहुत से विद्वान और भिक्षु यहाँ आकर रहते थे। भगवान के निर्वाण के पश्चात् प्रथम सहस्त्राब्दि के मध्य में उपासक और भिक्षु साथ रहते थे और उपासना करते थे। वर्षावास बीतने पर जो अर्हत हो जाते थे वे स्वर्ग चले जाते थे। सहस्त्राब्दि के पश्चात भी गृहस्थ और सन्यासी साथ रहते थे। परन्तु १०० वर्षों से पर्वत के देवताओं ने अपना ढंग बदल दिया है और बड़ा उपद्रव करते हैं। इसी से डर के मारे लोगों ने यहाँ आना-जाना छोड़ दिया है। इस लिए यह स्थान निर्जन और उजाड़ पड़ा है।

धनकटक

नगर के दक्षिण थोड़ी दूर पर एक पत्थर का टीला है। यह वह स्थान है जहाँ उपाध्याय भावविवेक, असुरों के प्रासाद में बोधिसत्व मैत्रेय के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए बैठे हैं कि वे बुद्धत्व प्राप्त करके आवेंगे और उसकी शंकाओं को निवारण करेंगे।

इस देश में आने पर आचार्य सुयेन-च्वाँग को विद्वानों से परिचय प्राप्त हुआ। एक का नाम सुभूति था और दूसरे का सूर्य। दोनों महासंघिक सम्प्रदाय के अनुसार त्रिपिटक की व्याख्या करने में सिद्धहस्त थे।

---

[1]यह वाक्य अस्पष्ट है। संभवतः इससे तात्पर्य यह है कि राजा ने उत्तर भारत में बने स्तूपों की रचना शैली आदि को भली भाँति देख कर इन्हें बनवाया था।—अनु०

इस हेतु आचार्य वहाँ कई मास ठहर गया। और उसने महासंघिक[1] संप्रदाय के अनुसार मूलाभिधर्म तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। उन लोगों ने आचार्य से महयान के ग्रंथों का अध्ययन किया। इस प्रकार एक दूसरे से अध्ययन कर वे लोग आचार्य के साथ तीर्थों का दर्शन करने गये।

यहाँ से दक्षिण १००० ली जाकर लोग 'चूल्य' (चोल) जनपद पहुँचे। नगर के दक्षिण-पूर्व एक स्तूप है जो अशोक का बनवाया है। यहाँ प्राचीन काल में भगवान बुद्ध ने अपनी अद्भुत अध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन किया था और तीर्थंकरों (विधर्मियों) को परास्त किया था और देवताओं और मनुष्यों को उपदेश किया था।

चोल

नगर के पश्चिम एक पुराना संघाराम है। यहीं देव बोधिसत्व ने अर्हत उत्तर से शास्त्रार्थ किया था। सातवाँ प्रश्न करने पर अर्हत निरुत्तर हो गया था परन्तु अपनी दैवशक्ति से वह तुषितधाम में पहुँचा और वहाँ उसने अपनी कठिनाई मैत्रेय बोधिसत्व से कही। मैत्रेय बोधिसत्व ने उसका उचित समाधान कर दिया। इस प्रकार अवसर पाकर मैत्रेय ने उससे कहा कि, "देव ने अथाह ज्ञान संग्रह किया है और इस भद्रकल्प में वह बुद्धत्व को प्राप्त होगा। तुम उसकी उपेक्षा मत करो।" अर्हत ने लौटकर देव के प्रश्न का उत्तर दे दिया। देव ने कहा, "यह बोधिसत्व मैत्रेय का उत्तर है तुम्हारा नहीं, तुमने उनसे जाकर पूछा है।"

अर्हत घबरा गया और उसने अपनी हार मान ली और उसे प्रणाम करके चला गया।

---

[1] ऐसा जान पड़ता है कि अमरावती के आस-पास के संघाराम महासंघिक संप्रदाय वालों ने बनवाये थे। ये लोग सिंहल के स्थविर संप्रदाय के विरोधी थे। अनु०

यहाँ से जंगल से होकर दक्षिण की ओर १५००, या १६०० ली की यात्राकर आचार्य द्रविड़ देश पहुँचा। इसकी राजधानी का नाम कांचीपुर था। यह धर्मपाल वोधिसत्व की जन्मभूमि है। यह यहाँ के प्रधान मंत्री का पुत्र था। लड़कपन में उसमें प्रतिभा लक्षित हुई। जब वह बड़ा हुआ तो राजा ने उसकी विद्या बुद्धि पर मुग्ध होकर राजकुमारी से उसका विवाह करना चाहा। वोधिसत्व ने बहुत पहले ही अपनी इन्द्रियों को वश में कर रखा था, अतः वह विवाह के बंधन में नहीं पड़ना चाहता था। विवाह की निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व संध्या को वह बड़ा दुखी और निराश हुआ और उसने बुद्ध की प्रतिमा के पास जाकर प्रार्थना करनी आरंभ की कि भगवान उसकी रक्षा करें और उसे कठिनाई से उवारें। उसने वड़ी भक्ति से विनय किया।

द्रविड

देवताओं के राजा ने तब उसे उठाकर वहाँ से सैकड़ों ली पर पहुँचा दिया। देवता ने धर्मपाल को एक विहार में भगवान बुद्ध के मंदिर में पहुँचा दिया। पुजारी लोगों ने उन्हें देखा तो निश्चय किया कि हो न हो यह चोर है। बोधिसत्व धर्मपाल ने सारी कथा कह सुनाई। इस पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और सब उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा की प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् धर्मपाल ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये। फलतः उन्होंने भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सिद्धान्तों को मनन किया और स्वयं शास्त्र-रचना करने लगे। उनके रचे निम्नलिखित ग्रंथ हैं—शब्द-विद्या-संयुक्त-शात्र—२५०० श्लोकों का, षट्-शास्त्र-वैपल्यम् की टीका, विद्या-मात्र-सिद्धि की टीका, न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र की टीका और अन्य अनेक ग्रंथ। ये ग्रंथ बड़े विषद् और गंभीर हैं। इनमें आचार्य ने अपना वृत्तान्त भी लिखा है।

काँची नगर दक्षिण भारत के समुद्र तट पर बसा है। यहाँ से

कॉंची

सिंहल द्वीप दिखाई पड़ता है। यहाँ पहुँचने के लिए तीन दिन समुद्र की यात्रा करनी पड़ती है।

आचार्य सुयेन-च्वांग के सिहंल जाने के पूर्व ही सिंहल-राज का परलोकवास हो गया था। देश में दुर्भिक्ष फैला हुआ था और चारों ओर लूट मार मची थी। वहाँ दो प्रसिद्ध भिक्षु थे। एक का नाम बोधिमेघेश्वर, दूसरे का अभयदंष्ट्र था। ये लोग ३०० भिक्षुओं को लेकर भारत आये थे और कांचीवरम में उतरे थे।

आचार्य ने उन से साक्षात् किया और उन से पूछा, "सुना जाता है कि आप के देश के विद्वान भिक्षु, योगशास्त्र और स्थविर निकाय के अनुसार त्रिपिटक की व्याख्या करने में प्रवीण हैं। मेरी इच्छा वहाँ जाकर इन शास्त्रों को अध्ययन करने की है। क्या आप बतला सकते हैं कि आप यहाँ क्यों आये हैं। उसे उत्तर मिला, "हमारे देश के शासक की मृत्यु हो गई है। लोग भूखों मर रहे हैं। कोई उनकी सहायता करनेवाला नहीं है। हम लोगों ने सुना है कि भारत में सुख और शान्ति है, वहाँ खाने-पीने का भी सुख है। यहाँ भगवान की जन्म भूमि है तथा अनेक स्मारक तीर्थ भी हैं। इसी हेतु हम लोग यहाँ चले आये हैं। हमारे देश के विद्वानों में कोई ऐसा नहीं हैं जो हम लोगों से बढ़कर हो। यदि आप को कुछ शंका समाधान करना है तो हमारे साथ विचार कीजिए।"

तब आचार्य ने योगशास्त्र के चुने हुए सूत्रों और वृत्तियों की व्याख्या पूछी, परन्तु वे लोग उस की इस प्रकार व्याख्या न कर सके जैसी शील-भद्र स्थविर ने की थी।

कहा जाता है कि इस जनपद की सीमा से ३००० ली पर **'मलकूट'** जनपद है। वह देश समुद्र के किनारे है। यहाँ भाँति भाँति के रत्न होते हैं।

मलकूट

इसकी राजधानी के पूर्व एक स्तूप है जो अशोक राजा का बनवाया

है। वहाँ तथागत ने प्राचीन समय में अपनी अनेक विभूतियाँ प्रकट की थीं और बहुत से लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया था।

इस जनपद के दक्षिण, नगर के तट पर मलयगिरि है। यह बड़ा ऊँचा पर्वत है। यहाँ सफ़ेद सुगन्धित वृक्ष होता है जिसे चन्दन कहते हैं। वृक्ष श्वेत पापलर (Poplar) वृक्ष की भाँति होता है। इसका गुण शीतल है। ग्रीष्म में अनेक प्रकार के साँप इस पर लपटे रहते हैं। परन्तु शरद् ऋतु में ये भूमि में छिप जाते हैं। इसी से इस वृक्ष की पहचान होती है।

मलयगिरि

यहाँ कपूर का भी वृक्ष होता है। यह देवदारु वृक्ष की भाँति होता है पर इसकी पत्तियों और फल-फूल में भेद होता है। वृक्ष काटने पर जब तक यह हरा रहता है उसमें सुगन्ध नहीं रहती परन्तु काटने के पश्चात जब वह सूख जाता है तो चीड़ने पर उसके भीतर मोती की तरह चमकीला, वर्फ़ की तरह जमा हुआ सुगन्धित पदार्थ निकलता है। इसी को 'नाग-शिर-गन्ध' वा कपूर कहते हैं।

लोग कहते हैं कि उत्तर-पूर्व दिशा में समुद्र तट पर एक नगर है यहाँ से ३००० ली की यात्रा करने पर 'सिंहल' देश मिलता है।

यह सिंहल जनपद ७००० ली आयतन में है और इसका प्रधान नगर ४० ली के घेरे में है। यहाँ घनी वस्ती है और यहाँ अनाज बहुत उत्पन्न होता है। यहाँ के लोग काले और छोटे कद के होते हैं। ये स्वभाव के चिड़चिड़े होते हैं।

सिंहल देश या रत्नद्वीप

यह जनपद पहले 'पो' नाम से प्रसिद्ध था अर्थात् रत्नदीप। कहते हैं कि दक्षिण भारत की एक स्त्री पास के किसी जनपद में व्याही थी। यात्रा करते समय उसे रास्ते में एक सिंह मिला। नोकर-चाकर डर से उसे पालकी में एकेला छोड़ इधर-उधर भाग खड़े हुए। सिंह उसे उठा ले गया और ले जाकर उसे गुफ़ा में रखा और उस के लिए फल और शिकार आदि लाकर भोजन के लिए देने लगा। कुछ दिन वहाँ

रहने पर उसके एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। देखने में ये मनुष्य की भाँति थे पर उनका स्वभाव तीव्र और क्रोधी था।

जब पुत्र बड़ा हुआ तो उसने अपनी माँ से पूछा, "हम लोग कौन हैं। पिता तो पशु हैं माता मनुष्य।" माता ने तब उसे सारी कथा कह सुनाई।

पुत्र ने कहा, "मनुष्य और पशु भिन्न-भिन्न हैं। क्यों न यहाँ से भाग चलें और एक दूसरे से सम्बन्ध तोड़ दें।" माता ने कहा, "मुझे आपत्ति नहीं है पर यहाँ से भाग निकलने का उपाय नहीं है।" लड़के ने अपने पिता (सिंह) के पीछे-पीछे जाकर मार्ग देख लिया और दूसरे दिन अपनी माता और बहन को लेकर वह एक गाँव में पहुँचा। वहाँ से अपनी माता के देश में पहुँचा पर वहाँ पता चला कि उसके वंश में कोई नहीं बचा है। तब उसने पास के एक जनपद में आश्रय लिया।

सिंह जब लौटा तो वह अपनी स्त्री और बच्चों को वहाँ न पाकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और वह घोर गर्जन करता हुआ वन से बाहर हुआ और इधर-उधर घूम-घूम कर गाँव के लोगों का संहार करने लगा।

लोगों ने राजा को समाचार सुनाया। वह चतुरंगिणी सेना लेकर उसे घेरकर बाण से मारने के लिये आया। सिंह ने यह देखकर बड़े ज़ोर का गर्जन किया और सब सवार और पदातिक डर से हिम्मत हार बैठे।

बहुत दिन हो गये पर कुछ न हो सका। तब राजा ने घोषणा की कि जो कोई उस सिंह को मारेगा उसे १००० स्वर्णमुद्रा पारितोषिक मिलेगा। यह सुनकर पुत्र ने माता से कहा, "हम लोग सर्दी और दरिद्रता के कारण दुख पा रहे हैं। मैं राजा की आज्ञा पालन करना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या राय है।"

माता ने उत्तर दिया, "यह तो उचित नहीं है। यद्यपि वह पशु है

फिर भी वह तुम्हारा पिता है। यदि तुम उसे मार डालोगे तो लोग तुम्हें मनुष्य कैसे कहेंगे ?"

पुत्र ने कहा, "बिना मेरे उपाय किये काम न चलेगा। यदि किसी दिन हम लोगों का पीछा करता हुआ वह (सिंह) गाँव में आ पहुँचा और राजा को मालूम हो गया तो हम लोगों की जानें न बचेंगी। इस लिये क्या करना चाहिये। सिंह अपने क्रोध में लोगों का नाश कर रहा है। एक दिन हम लोगों पर भी विपत्ति आ पड़ेगी। यह तो ठीक नहीं है कि एक की जान बचाने के लिए अनेक की जानें जाने दी जाँय। मैंने इस पर बार-बार सोचा है; मैं तो अवश्य उसे मारूँगा।"

वह सिंह को मारने चला। सिंह उसे देख कर शान्त हो गया और प्रसन्न होकर उसने चुप्पी साध ली। पुत्र ने छुरी लेकर उसके गले और पेट में भोंक दी। यद्यपि सिंह को बड़ी पीड़ा हो रही थी पर वह इस पर भी वह शान्त ही रहा और उसने चुपचाप मृत्यु सहन की।

राजा सिंह का मरण सुनकर प्रसन्न हुआ परन्तु उसका विचित्र आचरण सुनकर उसने उसका रहस्य जानना चाहा। पुत्र ने बतलाने में आनाकानी की परन्तु जब बहुत आग्रह किया गया तो उसने सारी सच्ची घटना बतला दी। राजा ने सारी कथा सुनकर कहा, "पशु की सन्तान ही ऐसा क्रूर कर्म कर सकती है। यद्यपि मैं तुमको अपनी घोषणा के अनुसार पुरस्कार देता हूँ पर तुमने पितृहत्या की है अतः तुम्हे अपने राज्य में रहने की आज्ञा न दूँगा।"

उसने अपने अमात्यों को आज्ञा दी कि इसे धन आदि देकर राज्य के बाहर निकाल दें। उन लोगों ने दो नावों पर धन, खाद्य सामग्री आदि रख, उस पर उन्हें बैठा कर समुद्र के बीच में छोड़ दिया। नाव जिस पर पुत्र बैठा था बहती हुई 'पो-चो' देश के किनारे लगी। वहाँ बहुत सी अलभ्य वस्तुएँ देखकर वह वहीं बस गया।

पो-चो

धीरे-धीरे व्यापारी लोग रत्नों की खोज में यहाँ आकर बसने लगे। उस लड़के ने उन्हें मार कर उनकी स्त्रियों और पुत्रियों को छीन लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे वंश बढ़ने लगा। जन संख्या बढ़ने पर इन लोगों ने अपने में से एक को राजा और एक को मंत्री निर्वाचित किया। उसके पूर्वज ने सिंह को मारा था अतः उन लोगों ने देश का नाम 'सिंहल' रखा।

स्त्री-राज्य

दूसरी नाव जिस पर लड़की बैठी थी बहती हुए पारस के पश्चिमीय तट पर लगी। वहाँ दैत्यों ने उसे पकड़ लिया और उससे बहुत सी कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अब वह देश **'पश्चिमीय स्त्री-राज्य'** कहा जाता है।

सिंहल

कुछ लोग कहते हैं कि सिंहल एक व्यापारी के लड़के का नाम था जो अपनी चालाकी से यहाँ के राक्षसों के पंजे से बच निकला था। राजा निर्वाचित होने पर उसने इस 'पो-चू (रत्न-द्वीप) को विजय किया और राक्षसों का संहार करके यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इसी कारण यह 'सिंहल' कहलाता है। यात्रा वृत्तान्त (सि-यू-की) में ऐसा ही लिखा है[1]।

यहाँ पहले बौद्धमत का प्रचार नहीं था। तथागत के निर्वाण के १०० वर्ष पीछे महाराज अशोक के छोटे भाई **'महेन्द्र'**, जो प्रव्रज्या ग्रहण कर चुके थे, अपने साथ चार श्रमणों को लेकर आकाश मार्ग से विचरते हुए यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार करने आये। भगवान के उपदेशों की श्रेष्टता दिखाने के हेतु उन्होंने यहाँ अनेक विभूतियाँ दिखलाईं। यहाँ के निवासियों ने भक्तिपूर्वक एक सङ्घाराम बनवाया। इस समय वहाँ १०० सङ्घाराम होगें। इनमें रहनेवाले भिक्षुओं की संख्या १०,००० होगी। ये स्थविर निकाय के अनुयायी हैं और माहयान को मानते हैं। यहाँ के गृहस्थ लोग बड़े गंभीर और आदरणीय हैं। ये धर्म

---

[1] देखिये यात्रा विवरण—बील का अनुवाद।

के अनुशसानों को उत्सहपूर्वक मानते और उन पर आचरण करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को प्रोत्साहित करते रहते हैं।

दंत-विहार

राजप्रसाद के निकट भगवान का दंत-विहार है। यह कई सौ फुट ऊँचा है। इसमें बहुमूल्य पत्थर लगे हैं। उसके शिखर पर एक दण्ड है जिसके सिरे पर पद्मराग मणि जड़ा है। यह शिखर से सम्बद्ध है। इस की ज्योति इतनी तेज है कि आकाश निर्मल होने पर यह १००० ली से दिखाई पड़ता है।

इसके निकट एक दूसरा विहार है जिसमें अनेकों रत्न लगे हैं। इसमें पूर्व काल के किसी राजा की बनवायी एक स्वर्ण प्रतिमा है जिसके मुकुट में एक बहुमूल्य रत्न जड़ा है। एक चोर ने इसे चुराने की इच्छा की। मन्दिर के चारों ओर कड़ा पहरा रहता था और उसे भीतर घुसने का अवसर नहीं मिलता था। तब उसने एक सुरंग खोदी और वह मंदिर में पहुँचा। जब वह रत्न निकालने चला तो प्रतिमा ऊँची हो गई और वह न पहुँच सका। उसने स्तुति की, "तथागत जब बोधिसत्व थे तो वे लोगों के लिये अपने शरीर तक को अर्पण करने में नहीं हिचकते थे। उन्होंने अपना देश त्याग दिया। अब ऐसा जान पड़ता है कि भगवान अपने अनुग्रह में संकुचित हो गये हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसी बात सचमुच है नहीं।"

इस पर प्रतिमा झुक गई और उसने मणि निकाल लिया। चोर उसे ले जाकर बेचने लगा। लोगों ने रत्न को पहचाना और वे उसे पकड़कर राजा के समीप ले गये। राजा ने पूछा कि "तूने रत्न कैसे पाया।" उसने उत्तर दिया, "भगवान ने दिया है।" और उसने सारी कथा सुना दी। राजा ने जाकर स्वयं देखा तो प्रतिमा झुकी हुई थी। उसने इस घटना को ईश्वरी समझा और उसे बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई। उसने चोर को उस रत्न के बदले बहुत सा धन दिया और उसने फिर उस मणि को मुकुट में लगवा दिया और वह मणि अभी तक वहाँ लगा है।

जनपद के दक्षिण-पर्व कोने पर 'लंका-गिरि' है। यहाँ अनेक देव, भूत और पिशाच रहते हैं। इसी पर्वत पर प्राचीन समय में तथागत ने लंकावतार सूत्र का उपदेश दिया था।

लंका-गिरि

इस जनपद के दक्षिण कई सहस्त्र ली पार 'नारि-कीर' नामक द्वीप है। यहाँ के निवासी लगभग तीन फुट के छोटे कद के होते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य के आकार का होता है पर पक्षियों की भांति उन्हें चोंच होती है। ये लोग अन्न खाने को नहीं पाते वरन नारिकेल पर जीवन व्यतीत करते हैं।

नारि-कीर

यह जनपद (सिंहल) बहुत दूर था और समुद्र पार कर जाना पड़ता था इस लिए आचार्य सुयेन-च्वांग वहाँ न जा सका। परन्तु उसने वहाँ के विषय में लोगों से पूछा था।

द्रविड़ से आचार्य उत्तर-पश्चिम सत्तर सिंहल देशवासी भिक्षुओं को साथ लेकर तीर्थों का दर्शन करने गया। २००० ली की यात्रा कर ये लोग 'किन-ना-पो-लो' (कोंकणपुर) पहुँचे। यहाँ १०० संघाराम थे जो हीनयान और महायान निकायवालों के थे। देवताओं की उपासना करनेवाले भिक्षु भी वहाँ बहुत से थे।

कोंकण

राजप्रसाद की सीमा के निकट एक बड़ा संघाराम था। इसमें ३०० भिक्षु रहते थे। ये सब विद्या के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। इस विहार में कुमार सिद्धार्थ का एक दो फुट ऊँचा बहुमूल्य उष्णीष है। यह एक जड़ाऊ सम्पुट में रखा था। प्रत्येक पर्व के दिन यह निकाल कर एक चौकी पर रखा जाता है। जो लोग भक्तिपुर्वक उसकी उपासना करते हैं उन्हें यह दिव्य ज्योति से प्रज्वलित दिखाई पड़ता है।

नगर के पास एक सङ्घाराम में एक बिहार है जहाँ भगवान मैत्रेय बोधिसत्व की एक १० फुट ऊँची चन्दन की प्रतिमा है। यह भी कभी-कभी चमकती रहती है। कहा जाता है कि २० लाख अर्हतों ने इसे मिलकर बनाया था।

नगर के उत्तर ताल का एक वन है जो ३० ली घेरे में है। इसकी पत्तियाँ लंबी और चमकीली होती हैं। यहाँ के लोग उन्हें लिखने के काम में लाते हैं और इनका अच्छा दाम मिलता है।

महाराष्ट्र

यहाँ से उत्तर-पश्चिम आचार्य को एक बड़े वन में से होकर जाना पड़ा। यह जंगली पशुओं से भरा था और बड़ा बीहड़ था। २४०० या २५०० ली का मार्ग चलकर आचार्य 'महाराष्ट्र' जनपद पहुँचा। यहाँ के लोग मृत्यु की उपेक्षा करते हैं और सदाचार को बड़ी चीज़ समझते हैं।

यहाँ का राजा क्षत्रि जाति का है। वह रण प्रिय है और उसे अपनी रण-कुशलता का बड़ा गर्व है। इस जनपद की पदातिक और अश्वारोही सेना बड़ी सुसज्जित है और ये युद्धविद्या में बड़े कुशल हैं। यदि कोई सेनापति लड़ाई पर जाकर हार जाता है तो उसे शारीरिक दण्ड न देकर केवल उसे स्त्री का बाना पहना देते हैं। इस पर उसे बड़ी ग्लानि होती है। अनेक बार तो ऐसा सुना गया है कि इन लोगों ने लज्जावश आत्महत्या कर ली है। राजा के यहाँ कई सहस्त्र योद्धा हैं और कई सौ हाथी हैं। जब ये लड़ाई पर जाने को तैयार होते हैं तो उन्हें मादक द्रव्य पिलाया जाता है और जब वे मदोन्मत हो जाते हैं तब उन्हें विपक्षी की सेना पर आक्रमण करने को कहा जाता है। इस प्रकार वैरी उनके सामने ठहर नहीं पाते और भाग खड़े होते हैं। इस प्रकार अपनी सेना पर भरोसा कर के वहाँ का राजा आसपास के राजाओं का तनिक भी भय नहीं रखता।

राजा शिलादित्य ने अपनी रणकुशलता और अपने चतुर सेनापतियों के विजय पर गर्व करता हुआ बड़ी निश्चिन्तता से इस राजा पर अपनी सेना लेकर चढ़ाई की थी परन्तु वह इसे[1] दमन करने में असफल रहा।

---

[1] इस राजा का नाम 'पुलकेशी' था।

यहाँ करीब १०० संघाराम हैं और इनमें रहनेवाले महायान और हीनयान के ५,००० भिक्षु हैं। यहाँ देवताओं की उपासना करनेवाले विधर्मी भी बहुत हैं। ये अपने शरीर पर भभूत लगाते हैं।

नगर के भीतर और बाहर कुल मिलाकर ५ स्तूप हैं। इनमें प्रायः सभी सैकड़ों फुट ऊँचे हैं। ये अशोक-राजा के बनवाये हैं और विगत चार बुद्धों के चलने-फिरने के स्थान के स्मारक हैं।

बडोच

इस जनपद से उत्तर-पश्चिम एक सहस्त्र ली की यात्रा कर 'नो-मो-तो' (नर्मदा) नदी पार कर आचार्य 'पो-लू-के-चेन-पो' (बडोच) जनपद पहुँचा।

मालव

यहाँ से उत्तर-पश्चिम २००० ली जाकर 'मो-ला पो' (मालव) जनपद मिला। यहाँ के निवासी सभ्य और सुशिक्षित हैं। ये ललित कलाओं के बड़े प्रेमी हैं। पाँचों द्वीपों (भारत) में दक्षिण-पश्चिम में मालव और उत्तर-पूर्व में मगध—ये ही दो विद्या, धर्म और सभ्यता के लिये प्रसिद्ध हैं। यहाँ के लोग बात-चीत में बड़े विनीत और मधुरभाषी हैं।

इस देश में १०० संघाराम हैं। इनमें 'सम्मतीय संप्रदाय' के तथा हीनयान के अनुयायी २०,००० भिक्षु रहते हैं। यहाँ साधु भी थे जो अपने शरीर में भभूत पोतते हैं और अनेक देवताओं की पूजा करते हैं। लोग कहते थे कि साठ वर्ष पूर्व वहाँ शिलादित्य[1] नामक राजा था जो बड़ा विद्वान और बुद्धिमान था। यह दयावान, उदार और प्रजा वत्सल था। प्रजा इसे बहुत चाहती थी। वह पहले ही से त्रिरत्न के सिद्धान्तों में बड़ी भक्ति रखता था। जब वह राजगद्दी पर बैठा, उस समय से मृत्यपर्यन्त उसने किसी को कटु वचन नहीं कहा और न कभी उसे क्रोध आया।

---

[1] यह उज्जैन का शिलादित्य था।

वह अपने मंत्रियों और रानियों से बड़ा प्रेम करता था। उसने कभी किसी को दुख नहीं दिया—यहाँ तक कि एक मक्खी या चींटी तक को। उसने आज्ञा दी कि घोड़ों और हाथियों को छान कर पानी पिलाया जाय जिससे पानी में रहनेवाले कीड़ों की हत्या न हो। उसने अपने राज्य के प्रधान कर्मचारियों को आज्ञा दे रखी थी कि अहिंसा का ध्यान रखें। उसका फल यह हुआ कि वन के पशु मनुष्यों से हिल मिल गये और वृक्षों ने अपना स्वभाव बदल दिया। उसके राज्य के सभी अधिवासी आनंद से थे। सुख और समृद्धि दिनों-दिन बढ़ती थी। उसने छोटे-बड़े बहुत से घर बनवाये। सात बुद्धों की प्रतिमाएँ बनवाईं। उसने मोक्ष (महापरिषद्) संघ का आह्वान किया। इस प्रकार उसने ५० वर्ष तक धर्मपूर्वक राज्य किया और अपनी प्रजा का वह प्रियपात्र बना रहा। उसे अभी तक लोग स्मरण करते हैं।

ब्राह्मणपुर

नगर के उत्तर-पश्चिम दिशा में २० ली पर ब्राह्मणपुर (ब्राह्मणों की बस्ती) के निकट एक गहरी खाई है। यही वह स्थान है जहाँ पूर्व काल में एक उद्दण्ड ब्राह्मण ने महायान को नष्ट करने के लिये उसकी निन्दा की थी और उसी पाप से सशरीर नर्क चला गया था। इसकी सविस्तार कथा 'सि-यु-की'* में है।

अटाली

यहाँ से उत्तर-पश्चिम २४०० या २५०० ली की यात्रा कर आचार्य 'ओ-चा-ली' (अटाली) जनपद पहुँचा। इस देश में 'हु-स्यान' वृक्ष होता है। उसकी पत्तियाँ 'शु-च्वन' के मिर्च के वृक्ष की भाँति होती हैं। यहाँ 'छ्युन-लू' (तगर) नामक सुगंधित वृक्ष भी होता है। इसकी पत्तियाँ 'थंग-ली' (सिरि-चूलि) वृक्ष की भाँति होती हैं।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम तीन दिन का मार्ग चलकर लोग 'की-चा'

* देखो 'यात्रा-विवरण'।

कच्छ

(कच्छ) जनपद पहुँचे। यहाँ से १००० ली उत्तर चलकर आचार्य 'फ-ला-पी' (वल्लभी) जनपद पहुँचा। यहाँ १०० संघाराम हैं। यहाँ सम्मितीय निकाय के अनुसार हीनयान के ६००० भिक्षु रहते हैं।

तथागत बुद्ध अपने जीवन काल में यहाँ अनेक वार आकर रहे हैं।

ध्रुवभट्ट

अशोक राजा ने उन-उन स्थानों में जहाँ भगवान ठहरा करते थे स्मारक-चिन्ह बनवा दिये हैं। वर्तमान शासक क्षत्रि जाति का है। यह कान्यकुब्ज के राजा शिलादित्य का जामातृ है। इसका नाम 'ध्रुवभट्ट' है। यह उदण्ड और क्रोधी प्रकृति का है। यह आलसी और मंद बुद्धि है फिर भी यह विद्या और धर्म का आदर करता है। त्रिरत्नों में इसका अटल विश्वास है और प्रतिवर्ष यह संघ बुलाता है और पूरे सात दिन तक सब देशों के भिक्षुओं का आदर-सत्कार करता है और उन्हें भोजन, वस्त्र, धन आदि दान करता है।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम ७०० ली जाकर आचार्य 'आनंदपुर' पहुँचा।

आनंदपुर

वहाँ से ५०० ली उत्तर-पश्चिम जाकर 'ला-सू-चा'[1] (सौराष्ट्र) जनपद मिला। वहाँ से उत्तर-पूर्व १८०० ली जाने पर 'कियु-ची-लो' (गुर्जर) और वहाँ से दक्षिण-पूर्व दिशा में २८०० ली की यात्राकर 'उ-चे-यन-न' (उज्जैन) जनपद पहुँचा। प्रधान नगर के समीप ही एक स्तूप है। यहीं अशोक राजा ने अपना नर्क बनवाया था[2]।

यहाँ से उत्तर-पूर्व १००० ली का मार्ग चलकर आचार्य 'ची-की-तो'

चिकीतो

जनपद पहुँचा। वहाँ से उत्तर-पूर्व १०० ली चलकर वह 'माहेश्वरपुर' प्रदेश गया। फिर यहाँ से पश्चिम दिशा

---

[1]'सु-ला-चा' का विपर्य्यय है।' [2]इसकी कथा मगध से यहाँ पहुँची होगी। नर्क वास्तव में मगध में बना था। अनु०।

में लौटकर वह फिर 'सुरथ' (सौराष्ट्र) लौटा। यहाँ से पश्चिम दिशा में जाकर 'ओ-तिन-पो-चि-लो' (अत्यनवकेल) जनपद पहुँचा। जीवन काल में तथागत यहाँ बहुत आकर रहते थे। अशोक राजा ने उन सब स्थानों पर जहाँ भगवान रहा करते थे स्मारक स्तूप बनवा दिये थे। ये सब वर्तमान थे।

यहाँ से पश्चिम १००० ली जाकर आचार्य 'लाँग-की-लो' (लाँगल) जनपद पहुँचा। यह महासागर के समीप पश्चिमीय 'स्त्री-राज्य' की ओर है।

लाँगल

यहाँ से उत्तर-पश्चिम २००० ली पर 'पो-ला-स्सी' (फारस) देश पड़ता है। यह भारत की सीमा के बाहर है। लोग कहते हैं कि यहाँ, मोती, रत्न, रेशमी कामदार कपड़े, ऊन, भेड़, घोड़े और ऊँट बहुत होते हैं। यहाँ दो या तीन संघाराम हैं जिनमें सौ के लगभग भिक्षु रहते हैं। ये लोग स्थविर निकाय के अनुसार हीनयान को मानते हैं। इसकी राजधानी में भगवान शाक्य मुनि का पात्र रखा है। इस देश की पूर्वी सीमा पर 'हो-मो' (उरमुज) नगर, उत्तर-पश्चिम सीमा पर 'फो-लिन' जनपद है। दक्षिण-पश्चिम ओर एक द्वीप में 'पश्चिमीय स्त्री-राज्य' नामक जनपद है। इन स्त्रियों में कोई पुरुष नहीं रहता है परन्तु देश में बहुत रत्न भरा है। यह देश 'फो-लीन' के आधीन है। 'फो-लीन'[1] का राजा प्रति वर्ष इन स्त्रियों के साथ सहवास करने के लिए पुरुष भेजता है। परन्तु यदि पुत्र उत्पन्न होते हैं तो वे स्त्रियाँ उन्हें नहीं पालतीं।

लाँगल जनपद के उत्तर-पूव ७०० ली जाने पर 'पि-तो-शी-लो' (पीतशिला) जनपद मिला। यहाँ अशोक का बनवाया कई सौ फुट ऊँचा स्तूप है। इसमें धातु रक्षित

पीतशिला

---

[1] कदाचित बेबीलोन से तात्पर्य है।

है जिसमें प्रखर ज्योति निकलती है। प्राचीन काल में जब तथागत ऋषि थे तो उस समय यहाँ के राजा ने उनकी हत्या करा दी थी।

अवण्ड

यहाँ से उत्तर-पूव ३०० ली चलकर 'ओ-फा-च' (अवण्ड) जनपद पहुँचा। राजधानी के उत्तर-पूर्व एक बड़े वन में एक संघाराम है। यहाँ पर पहले बुद्ध भगवान स्वयं रहे थे। उस समय उन्होंने भिक्षुओं को 'किह-फुह-तो' (चमड़े का जूता) पहनने की आज्ञा दी थी। यहाँ एक अशोक का बनवाया स्तूप है। उसी के पास एक विहार है जिसमें भगवान की एक खड़ी मुद्रा की प्रतिमा है। यह नीले पत्थर की है। इसमें से प्रायः प्रखर प्रकाश निकला करता है। इसके दक्षिण ८०० पग पर एक बड़ा वन है। यहाँ एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। प्राचीन काल में तथागत यहाँ ठहरे थे। रात में सर्दी लगने पर उन्होंने अपने तीन परिधानों को एक के ऊपर एक साटकर ओढ़ा था। प्रातः काल उन्होंने भिक्षुओं को रज़ाई ओढ़ने की आज्ञा दी थी।

सिंध

यहाँ से पूर्व दिशा में ७०० ली चलकर आचार्य 'सिन-तू' (सिंध) देश पहुँचा। इस जनपद में स्वर्ण, रजत, ताउ-शी[१], बैल, भेड़, ऊँट, लाल नमक, श्वेत नमक, काला नमक आदि होते हैं। काला नमक लोग औषधि के काम में लाते हैं।

जीवनकाल में तथागत यहाँ प्रायः आते थे। उनके स्मारक स्थानों पर अशोक राजा ने स्तूप बनवा दिये थे। यहाँ अर्हत उपगुप्त के भी स्मारक हैं। उपगुप्त यहाँ लोगों को उपदेश देने के लिये आये थे।

मुल्तान

यहाँ से पूर्व ९०० ली की यात्रा कर नदी के पूर्वीय तट पर उतरकर आचार्य 'मु-लो-सन-पो-लो' (मूलस्थानपुर वा मुल्तान) जनपद पहुँचा। यहाँ के अधिवासी यज्ञ करते हैं और

---

[१] Calamine stone.

उ-फा-सुन (आदित्य) नामक देवता की उपासना करते हैं। इसका दूसरा नाम सूर्य देवता है। इस देवता की एक रत्नजटित सोने की प्रतिमा है। आस-पास के निवासी उसकी पूजा करने आते हैं। फूले-फले वन, जलाशय, और तालाब सुन्दरता से छाये हुये खपरैल के मकान, सोपान आदि सुन्दर दृश्य देखकर मन में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पर्वत

यहाँ से उत्तर-पूर्व ७०० ली जाकर आचार्य सुयेन-च्वांग 'पो-फो-तो-लो' (पर्वत) जनपद पहुँचा। प्रधान नगर के समीप एक बड़ा संघाराम है। उसमें महायान के अनुयायी १०० भिक्षु रहते हैं। यहीं प्राचीन काल में शास्त्री जिनपुत्र ने योगाचार्य-भूमि-शास्त्र-कारिका नामक शास्त्र की रचना की थी। यहीं आचार्य भद्ररुचि और गुणप्रभ पहले-पहल शिष्य हुए थे। इस देश में दो तीन बड़े विद्वान भिक्षु थे जो विद्या के लिये प्रसिद्ध थे। इनसे अध्ययन करने के उद्देश से आचार्य सुयेन-च्वांग यहाँ दो वर्ष ठहरा और उसने मूलाभिधर्म शास्त्र, सदधर्म संपरिग्रह शास्त्र और परीक्षा-सत्य शास्त्र का सम्मतीय निकाय के अनुसार अध्ययन किया।

मगध लौटना

यहाँ से लौटकर दक्षिण-पूर्व मार्ग से वह मगध की ओर लौटा और नालंद विहार में पहुँचा और उसने 'चिंग-फ-शाँग' (शीलभद्र) महास्थविर का अभिवादन किया। यहाँ आचार्य ने सुना कि यहाँ से पश्चिम ओर तीन योजन पर एक 'तिलडक' नामक विहार है। वहाँ 'फो-लो-पो-ती' (वालापति ?) का निवासी 'प्रज्ञा भद्र' नामक महाविद्वान भिक्षु आकर ठहरा है। यह सर्वास्तिवाद निकाय का अनुयायी था।

यष्टिवन

यह महापुरुष तीनों पिटक, शब्दविद्या और हेतु-विद्या आदि शास्त्रों का ज्ञाता था। आचार्य ने उसके पास दो मास रहकर अपनी शंकाओं का समाधान किया। यहाँ से आचार्य 'यष्टि वन' गया और वहाँ सौराष्ट्र निवासी एक क्षत्रि गृहपति के यहाँ ठहरा।

उसका नाम 'जयसेन' था और वह शास्त्र-लेखक था। लड़पन में वह विद्याध्ययन के लिए बैठाया गया। पहले-पहल उसने भद्ररुचि आचार्य से हेतु-विद्या पढ़ी, फिर स्थितिमति बोधिसत्व से महायान और हीनयान का शब्दशास्त्रों का अध्ययन किया। फिर उसने शीलभद्र महास्थविर से योगशास्त्र पड़ा।

इसके अतिरिक्त उसने अनेक धार्मिक ग्रन्थों, चारों वेदों, ज्योतिष, भूगोल, आयुर्वेद, तंत्र-मंत्र, गणित आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और उस ने इन शास्त्रों का खूब मनन किया। उसकी विद्वत्ता का उस समय सभी मान करते थे।

मगध का राजा पूर्णवर्मा विद्वानों और महात्माओं का वड़ा आदर करता था। उसने जयसेन की ख्याति सुनकर उसे अपने दरबार में निमंत्रित किया और उसे 'कओ-स्स' (कुलपति) की उपाधि प्रदान की और उस के लिए २० गाँवों का 'बलिभोग' प्रदान करना चाहा। परन्तु जयसेन ने अस्वीकार किया।

राजा पूर्णवर्म्मा की मृत्यु के पश्चात् शिलादित्य (हर्ष) राजा ने उसे अपने यहाँ बुलाया और महापंडित बनाना चाहा और उसे ओड़ीसा में ८० बड़े-बड़े नगरों का बलिभोग प्रदान करना चाहा, परन्तु उसने लेना अस्वीकार किया। राजा ने बार-बार कहा पर उसने हाँ न की। उसने राजा से कहा, "मैंने सुना है कि जो लोग साँसारिक वस्तुएँ (दान आदि) ग्रहण करते हैं वे सांसारिक बंधनों में पड़ जाते हैं। मैं जन्म मरण के बंधन के झंझटों को छोड़ने का उपदेश करने की इच्छा करता हूँ, भला यह कैसे संभव है कि मैं संपत्ति के बखेड़ों में पड़कर शान्ति लाभ कर सकूंगा ?"

यह कह कर वह प्रणाम करके चला गया। राजा ने बहुत चाहा पर वह न रुका।

उस समय से जयसेन यष्टिवन नामक पर्वत पर रहने लगा था। यहाँ

रहकर वह ब्रह्मचारियों को अपने यहाँ रखता, उनकी देख-रेख करता और उन्हें बौद्ध धर्मग्रन्थों को पढ़ाता था। बहुत से गृहस्थ और भिक्षु उसे अपना गुरु मानते हैं। इस के शिष्यों की संख्या कई सौ है।

आचार्य सुयेन-च्वाँग उसके पास दो वर्ष तक ठहरा और वहाँ रहकर उसने विद्या-मात्र-सिद्धि-शास्त्र, आई-ली-लून, शिंग-वू-वै-लून, पुह-चू-नी-पन-शी-इन-उन-लुन, च्वाँग-यन-किंग-लुन आदि शास्त्रों की शंकाएँ निवारण कीं। उसने हेतुविद्या और योगशास्त्र की कठिनाइयाँ भी दूर कीं जिसके कारण उसे शंका हुआ करती थी।

यह सब हो चुकने के पश्चात आचार्य ने एकाएक रात में स्वप्न देखा कि नालंद विहार के प्रांगण और कमरे उजाड़ और गंदे पड़े हैं। उसमें न भिक्षु हैं न उपासक हैं वरन् भैंसें बंधी हैं। सुयेन-च्वाँग ने बालादित्य के उपदेश गृह के पश्चिमीय द्वार के भीतर जाकर देखा तो चौथे मंजिल पर एक हिरण्यवर्ण पुरुष दिखाई पड़ा। इसकी मुद्रा गंभीर और प्रभावोत्पादक थी और उसके शरीर से ज्योति निकल कर सारे विहार में फैल रही थी। वह मन में बड़ा आनंदित हुआ और शिखर पर चढ़ने की इच्छा करने लगा, परन्तु उसे कोई रास्ता नहीं मिलता था। तब उसने उस पुरुष से प्रार्थना की कि नीचे आकर उसे भी अपने साथ ले जाय। परन्तु उस पुरुष ने उत्तर दिया, "मैं मंजुश्री बोधिसत्व हूँ। अभी तुम्हारे कर्म ऐसे नहीं हुए हैं"—यह कहकर उसने विहार के बाहर की ओर इशारा करके कहा, "तुम वह देख रहे हो?" आचार्य ने उस ओर आँखें उठाईं तो देखा विहार से दूर भयानक अग्नि गाँव और नगरों को जला कर भस्म कर रही है। उस हिरण्यवर्ण पुरुष ने कहा, "तुम शीघ्र लौट जाओ क्योंकि आज से १० वर्ष बाद शिलादित्य राजा की मृत्यु होगी और भारत में उपद्रव मचेगा। लोग एक दूसरे का गला काटेंगे। इसे स्मरण रखो।" यह कहकर वह अदृश्य हो गया।

स्वप्न

आचार्य जग पड़ा और आनंदित होकर वह जयसेन के पास पहुँचा और उसने उनसे स्वप्न का हाल कह सुनाया। जयसेन ने कहा, "संसार में सुख और शान्ति कहाँ हो सकती है। जैसा तुमने स्वप्न में देखा है संभव है वही बात हो। परन्तु अब तुम्हें चेतावनी मिल गई है अतः यह तुम्हारी जिम्मेदारी है। तुम्हें शीघ्रता करनी चाहिए।" इससे यह पता चलता है कि बोधिसत्व धर्मात्मा पुरुषों की देख-रेख करते रहते हैं। भारत से लौटने का विचार आचार्य ने शीलभद्र पर प्रकट किया था परन्तु उसने उसे रोक रखा था। जब बहुत दिनों तक वह रुका रहा और जाने की आज्ञा नहीं मिलती थी तो आचार्य को यह स्वप्न हुआ जिसमें उसके लौटने में सुवीधा हो। यदि आचार्य के हृदय में भगवान ने यह बात न डाली होती तो यह घटना कैसे सत्य उतरती।

'युंग-हुई' राजवंश के अन्तिम काल में (ई० ६५४-५) शिलादित्य राजा का देहान्त हो गया और भारत दुर्भिक्ष और विप्लव का शिकार हो गया। यही स्वप्न में भविष्यद्वाणी हुई थी। 'वाँग-वुन-से' इन सब को देखने के लिये राजदूत होकर आने की तैयारी कर रहा था।[1] यह वर्ष का पहला महीना था।

इसी मास में भारत में लोग बोधि विहार से गया में भगवान के धातु लेने आते हैं। भिक्षु और गृहस्थ सभी दूर-दूर से यहाँ दर्शन और पूजन करने आते हैं। आचार्य भी जयसेन के साथ भगवान के धातु का दर्शन करने गया। यहाँ छोटे-बड़े दोनों प्रकार के धातु हैं। बड़े मोती की भाँति हैं और चमकते रहते हैं। ये गुलाबी रंग के हैं। माँस पिंड, सेम के दाने के बराबर था और चमकीले लाल रंग का था। बहुत से उपासक वहाँ एकत्र होते हैं। धूप जलाकर, फल आदि चढ़ाकर वे स्तुति करते हैं और फिर पूजादि कर धातु को पुनः स्तूप में रख देते हैं।

---

[1] चीन से भारत के लिए राजदूत भेजने का प्रबंध हो रहा था।

धातु चमत्कार

रात के प्रथम प्रहर में जयसेन और आचार्य आपस में धातु की बड़ाई-छोटाई पर वार्तालाप कर रहे थे। जयसेन ने कहा, "मैंने तो जहाँ कहीं देखा है चावल से बड़ा धातु नहीं देखा है। इतने बड़े-बड़े धातु यहाँ कैसे आ गये। श्रीमान को क्या इसमें कुछ शंका है?"

सुयेन-च्वाँग ने उत्तर दिया, "मुझे भी आप ही की भाँति इसमें विश्वास नहीं हो रहा है।"

थोड़ी देर पश्चात् संघाराम के दीपक मंद पड़ गये और चारों ओर दिव्य प्रकाश फैल गया। बाहर निकलकर देखा गया तो धातु-स्तूप सूर्य की भाँति चमक रहा था और उसकी चोटी से पाँच प्रकार की ज्वाला निकलकर आकाश में उठ रही थी। चारों ओर (पृथ्वी और आकाश में) प्रकाश फैल गया था। चन्द्र और नक्षत्र दिखाई नहीं देते थे। संघाराम में चारों ओर सुगंधि फैल रही थी।

चारों ओर शोर मच गया कि धातु में से दिव्य प्रकाश निकल रहा है। सब लोग दौड़े आये और पूजा करने लगे और इस दिव्य दृश्य पर आनंदित हो उठे। धीरे-धीरे प्रकाश मन्द पड़ गया और बुझने के पहले ऐसा जान पड़ा मानो प्रकाश स्तूप के शिखर के चारों ओर कई बार चक्कर काटकर उसके भीतर चला गया। अब फिर आकाश में तारे निकल आये। पृथ्वी पर चारों ओर अंधकार का राज्य हो गया। जिन लोगों ने यह दृश्य देखा उनकी शंका जाती रही।

आचार्य सुयेन-च्वाँग और जयसेन ने बोधिवृक्ष की पूजा की और पवित्र स्थानों का दर्शन किया। आठ दिन वहाँ रहकर वे लौटकर नालंद विहार पहुँचे।

महास्थविर शीलभद्र ने आचार्य को आदेश किया कि संघ को महायान-संपरिग्रह-शास्त्र सुनावे और विद्या-मात्र-सिद्धि-शास्त्र की व्याख्या करे।

इस समय 'सिंहरश्मि' नामक विद्वान भिक्षु संघ को प्रणय- मूल-शास्त्र और शतशास्त्र का नवीन संस्करण सुना रहा था जिसमें योग सिद्धान्तों का खण्डन किया गया था।

आचार्य ने प्रणयमूल और शतशास्त्र के सिद्धान्तों का खण्डन कर योग शास्त्र का मण्डन किया और पुष्टि में बड़े-बड़े आचार्यों का वाक्य उधृत किया। उसने सिद्ध किया कि सब का एक ही मत है। वे आपस में विरोधी नहीं हैं और न उनमें मतभेद है। यदि हम उनमें भेद पाते हैं तो यह उनका दोष नहीं है वरन उनके अनुयायियों का है। इससे वास्तविक सत्य पर कोई दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

सिंहरश्मि

सिंहरश्मि के संकुचित विचार पर तरस खाकर आचार्य सुयेन-च्वांग ने अनेक बार उससे प्रश्न किये। वह उत्तर न दे सका। आचार्य ने बहुत चाहा पर वह चुपी साध गया। यह देखकर उसके शिष्य उसे छोड़कर आचार्य से पढ़ने लगे।

सुयेन-च्वांग ने प्रणयमूल और शतशास्त्र के आधार पर सांख्य के सिद्धान्तों का खण्डन करना चाहा था। उसने (बौद्ध) धर्म के स्वयंभूत, स्पष्ट वा सांग सत्य के विषय में कुछ नहीं कहा, परन्तु फिर भी सिंहरश्मि उसकी बात न समझ सका और न उसने उसका आशय समझा। वह केवल यही सूत्र कहता रहा, 'इह-तस्य-पु-सो-ते'—'ऐसा स्वयं होता है' और इस हेतु योग का यह कहना कि सत्य पूर्ण और सिद्ध प्राप्त करना होता है—यह व्यर्थ है। यही उसका तर्क था।[1]

---

[1] एक पक्ष कहता था कि सत्य का धर्म योग से प्राप्त होता है। दूसरा कहता था यह बिना प्रयास के होता है। इसके हेतु योग व्यर्थ है। अनु०।

आचार्य ने दोनों सिद्धान्तों का समाहार करने के लिये एक शास्त्र की रचना की। इसका नाम 'हु ई-त्सुंग' रखा। इसमें ३००० श्लोक थे। समाप्त होने पर उसने ग्रन्थ शीलभद्र (महास्थविर) और संघ के सामने रखा। सब ने उसकी सराहना की और उसका व्यवहार स्वीकार किया।

सिंहरश्मि लज्जित हो गया और वह नालंद विहार छोड़कर बोधि विहार चला गया। उसने वहाँ अपने एक सहपाठी को पूर्व-भारत से बुलवाया और उससे कहा कि उसके साथ रहकर वह इन कठिन सिद्धान्तों पर विचार करे जिसके कारण उसे फिर लज्जित होना न पड़े। इस सहपाठी का नाम चन्द्रसिंह था। परन्तु उसके आने पर वह बिलकुल चुप हो गया और कुछ भी न कह सका। इस प्रकार आचार्य का नाम बहुत फैल गया।

सिंहरश्मि के प्रस्थान के पूर्व शिलादित्य राजा ने एक विहार बनवाया जो नालंद विहार के समीप था। इसमें पीतल की चद्दर जड़ी थी और इसकी ऊँचाई सो फुट थी। सारे देश में इसकी प्रसिद्धि थी।

शिलादित्य विहार

राजा कोन्योध (गंजम) विजय करके उड़ीसा पहुँचा। यहाँ के भिक्षु हीनयान में विश्वास करते हैं और महायान को नहीं मानते। उनका कहना है कि यह सिद्धि 'आकाश कुसुम'[१] है। भगवान ने इसका आदेश ही नहीं किया था।

राजा से मिलने पर वे उससे इस विषय पर बातचीत करने लगे और लगे कहने, "हम लोगों ने सुना है कि महाराज ने नालंद में एक पीतल का विहार बनवाया है जो बड़ा सुन्दर है। महाराज कापालिक-मन्दिर या इसी तरह की कोई इमारत क्यों नहीं बनवाते ?"

राजा शिलादित्य ने उत्तर दिया, "तुम्हारे इस उपालंभ का तात्पर्य क्या है ?"

उन सब ने उत्तर दिया, "नालंद विहार और उसके 'आकाश कुसुम'[1] सिद्धान्त कापालिकों से भिन्न नहीं हैं। यही हमारे कहने का तात्पर्य है"

इसके पूर्व दक्षिण भारत में एक राजा का एक वृद्ध-ब्रह्माण गुरु था। उसका नाम 'प्रज्ञागुप्त' था। वह सम्मतीय निकाय के सिद्धान्तों का आचार्य था। उसने महायान के खण्डन में ७०० श्लोकों का एक ग्रन्थ लिखा था। उस पर हीनयान के सब विद्वान बड़े प्रसन्न थे। उन लोगों ने उस ग्रन्थ को लेकर राजा के सामने रखा और कहने लगे, "इसी ग्रन्थ को हम लोग मानते हैं। अन्य किसी संप्रदाय का कोई ऐसा विद्वान है जो इसके एक शब्द का खण्डन कर सके?"

राजा ने कहा, "मुझे एक कथा याद आती है—एक लोमड़ी खेत में चूहों को लेकर यह डींग मार रही थी कि वह सिंह से लड़ सकती है परन्तु जैसे ही उसने सिंह को देखा तो उसका साहस टूट गया और उसके साथी भाग खड़े हुए। महाशय! आप लोगों का अभी किसी महायान के विद्वान से पाला नहीं पड़ा है इस लिये आप अपने मिथ्या सिद्धान्तों का समर्थन कर रहे हैं। यदि कहीं किसी ऐसे से पाला पड़ जायगा तो बस लोमड़ी की तरह आप लोग कहीं दिखाई न पडेंगे।" भिक्षुओं ने उत्तर दिया, "यदि महाराज को हमारे कथन में विश्वास न हो तो आप परिषद् बुलाकर सत्य-असत्य का विचार करा लें।"

राजा ने उत्तर दिया, "इसमें कौन सी कठिनाई है।"

तुरन्त राजा ने पत्र देकर एक दूत को नालंद विहार में आचार्य शीलभद्र वा सद्धर्मपिटकाचार्य के पास भेजा और लिखा, "आप

---

[1] यह सिद्धान्त 'सुरंगम सूत्र' में दिया है। संभवतः इसकी कल्पना नालंद विहार में हुई थी। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ मर्त्य व अ-स्थाई तथा असत्य हैं।

का दास उड़ीसा प्रान्त में यात्रा करते समय हीनयान के कुछ भिक्षुओं से मिला। ये लोग विरोधी मत का उत्तर न दे सकने के कारण एक ऐसे शास्त्र में विश्वास करते हैं जो महायान के सिद्धान्तों का खण्डन करता है। ये लोग महायान के अनुयायियों को विभिन्नधर्मी मानते हैं और उनसे शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं। मुझे ज्ञात है कि आप के विहार में बड़े-बड़े योग्य विद्वान हैं जो अनेक सिद्धान्तों के पंडित हैं। हमें विश्वास है कि वे इन्हें परास्त करने में समर्थ होंगे। इस लिये इनसे शास्त्रार्थ करने के लिए आप उन विद्वानों में से ऐसे चार विद्वान चुनकर उड़ीसा भेजिये जो दोनों यानों के सिद्धान्तों तथा लौकिक और अलौकिक सिद्धान्तों के भी ज्ञाता हों।"

शीलभद्र महास्थविर ने पत्र पाकर विद्वानों को एकत्र किया और उनसे परामर्श कर उसने सागरमति, प्रज्ञारश्मि, सिंहरश्मि और आचार्य सुयेन-च्वाँग को वहाँ भेजने के लिए निर्वाचित किया। सागरमति आदि इस पर हिचक रहे थे तो आचार्य (शीलभद्र) ने कहा, "अपने देश में सुयेन-च्वाँग ने तीनों पिटकों का अध्ययन किया है, काशमीर में रहकर उसने हीनयान के शास्त्रों को पढ़ा है। ये विरोधी अपने सिद्धान्तों से महायान को परास्त करने में असमर्थ होंगे। सुयेन-च्वाँग यद्यपि साधारण योग्यता और साधारण बुद्धि का है फिर भी उन लोगों को पछाड़ने के लिये वह यथेष्ट है। आप लोग चिन्ता न करें। यदि वह हार गया तो उसे मालूम है कि इसके पश्चात चीन के भिक्षुओं का नाम मिट जायगा।"

इस पर सब लोग सन्तुष्ट हो गये।

परन्तु शिलादित्य राजा का दूसरा पत्र आया कि, "अभी तुरन्त आवश्यकता नहीं है। वे लोग ठहर जायँ। पीछे से आवेंगे।"

इसी समय एक 'शुन-सी' संप्रदाय (लोकाति) का एक विधर्मी नालंद के भिक्षुओं से शास्त्रार्थ करने पहुँचा और उसने ४० सूत्र लिखकर नालंद महाविहार के द्वार पर टाँग दिये और कहने लगा, "यदि

इस विहार का कोई अंतेवासी इसका उत्तर दे सके तो मैं उसकी जीत के उपलक्ष में अपना सिर उतार कर दे दूँगा।"

कई दिन हो गये किसी ने उसके आह्वान का उत्तर नहीं दिया तव आचार्य सुयेन-च्वांग ने अपने एक दास को भेजा कि उसके लिखे सूत्रों के उतार कर फाड़ डाले और उसे पैरों से रौंद दे।

इस पर ब्राह्मण ने बड़े क्रोध से पूछा, "तुम कौन हो ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं महायान-देव का भृत्य हूँ।"

ब्राह्मण ने आचार्य का नाम सुन रखा था। वह लज्जित हो गया और उसने शास्त्रार्थ करने का विचार छोड़ दिया।

आचार्य ने तव उसे बुला भेजा और कहा, "विचार करो!"

आचार्य से शास्त्रार्थ

शीलभद्र तथा संघ के अन्य भिक्षुओं के सामने शास्त्रार्थ आरंभ हुआ। आचार्य ने विधर्मियों के नाना संप्रदायों का मत सुन कर कहा, "भूत, निर्ग्रन्थ, कापालिक, जुटिक[1] आदि भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य और वैशेषिक आपस में विरोधी हैं। भूतवादी अपने शरीर पर भभूत पोतकर सिद्धि चाहते हैं, उनका धूलधूसरित चर्म जूल्हे की बिल्ली की भाँति लगता है। निर्ग्रन्थ वाले नंगे फिर कर प्रसिद्धि चाहते हैं और अपना बाल नोचकर धर्म उपार्जन करना चाहते हैं। उनके फटे हुए पैर, सूखा शरीर नदी तट पर खड़े काष्ठ की भाँति देखाई पड़ता है। कापालिक लोग मुण्डमाला पहने, सिर पर हड्डियाँ बाँधे पर्वतों की खोह में छिपे फिरते हैं और यक्षों की भाँति श्मशान में मंडराते रहते हैं। चुंगिक (चुंडिक) लोग मैले वस्त्र पहनते और गन्दा सड़ा भोजन खाते हैं और सूकरों की तरह इधर-उधर नालियों में पड़े रहते हैं। क्या यह सब बुद्धिमत्ता है ? क्या यह पागलपन—मूर्खता नहीं है ?

---

[1] 'चुंडिक' जो जटा रखते हैं।

"सांख्य वाले (शो-लुन) २५ गुण मानते हैं। कहते हैं प्रकृति या मूल-प्रकृति से महत होता है। महत् से अहंकार। इससे पाँच तंमात्र होते हैं। इनसे पाँच तत्व और इनसे एकादश इन्द्रियाँ। ये सब २४ आत्मा की सहायता करते हैं जो यथेच्छा इनकी सहायता लेता हुआ भी अपने को अलग रखता है। इसके पश्चात् आत्मा शुद्ध और निलिप्त होता है।

"वैशेषिक लोग छ अवस्था मानते हैं—सत्य, गुण, कर्म, अस्तित्व, अनुकूल तथा विरोधी प्रकृति। आत्मा इन सब का अनुभव करता है जब तक वह इनके बंधन से मुक्त नहीं होता वह इनका अनुभव कर इनसे मुक्त होने की चेष्टा करता है और षट् लक्षणों से मुक्त होकर उस दशा को प्राप्त होता है, जिसे निर्वाण कहते हैं।

"अब आप लोग सांख्य का विरोध करते हुए कहते हैं कि २४ गुणों के रहते हुए भी आत्मा का स्वभाव भिन्न है और इनसे संयोग होने पर वह एक हो जाता है। आप कहते हैं कि प्रकृति में तीन—रज, तम और राजस गुण हैं और इन्हीं से मिलकर 'महत्' और शेष २३ गुणों की पूर्ति होती है। अतः आप का कहना है कि तीन गुणों से मिलकर शेष २३ तत्व पूर्ण होते हैं। यदि आप अपने 'महत्' तथा अन्य को, 'त्रयगुणों' की प्राप्ति के लिये निग्रह कर सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं जैसे वृक्ष आदि बढ़ते हैं और यदि आप यह मानते हैं कि बिना व्याप्ति के ये सब मिथ्या हैं तो आप यह कैसे कहते हैं कि सब वस्तुएँ 'स्वतःसिद्ध' हैं।

"फिर 'महत्' और शेष त्रयगुण पूर्ण होते हैं तब तो यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक संपूर्ण है। परन्तु यदि अंश मूल के बराबर है तो प्रत्येक का धर्म भी एक होना चाहिए। तब यह कैसे माना जायगा कि ये तीन सब में व्याप्त हैं? और यदि यह माना जाय कि ये सब बराबर हैं तो आँख और मुँह आदि का वही धर्म है जो प्रकृति का धर्म है।

"और फिर यदि प्रत्येक एक दूसरे का धर्म संपादन कर सकता है तब तो मुख और कान आदि सूंघ और देख सकते हैं। यदि ऐसा नहीं कर

सकते तो आप के इस कथन का अर्थ ही क्या होगा कि तीनों गुण मिला कर एक ही की पूर्ति करते हैं। इसे कौन बुद्धिमान मान सकता है ?

"परन्तु प्रकृति और आत्मा को, अनन्त होने के कारण एक दूसरे का व्यापार संपादन करना चाहिए। फिर एक दूसरे से मिला क्यों है ? और फिर वे दोनों मिलकर 'महत्' की सृष्टि कैसे कर सकते हैं ?

"आत्मा का स्वभाव लीजिए—यदि यह अनन्त है तो इसमें और प्रकृति में भेद क्या है ? यदि दोनों एक हैं तो आत्मा कहने का प्रयोजन ? और यदि आतमा २४ वस्तुओं से पृथक है और उसे इनकी आवश्यकता नहीं होती तो 'वस्तु' और 'ज्ञान' का भेद ही नहीं हो सकता।"

इस प्रकार आचार्य ने तर्क किया और वह ब्राह्मण चुप हो गया।

विजय

अन्त में उसने उठकर प्रणाम किया और कहने लगा, "मैं निरूत्तर हो गया। मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना सिर देने के तैयार हूँ।"

आचार्य सुयेन-च्वांग ने उत्तर दिया, "हम लोग शाक्य पुत्र हैं। हम लोग हिंसा नहीं करते। मेरी आज्ञा से तुम मेरे शिष्य हो जाओ और मेरे उपदेश पर चलो।"

ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने तुरन्त शिष्य होना स्वीकार किया। जिन लोगों ने इस घटना का हाल सुना, सुयेन-च्वांग के प्रति उनका आदर और भी बढ़ गया। और वे उसकी प्रशंसा करने लगे।

आचार्य सुयेन-च्वांग की इच्छा हुई कि उड़ीसा जाकर वह ७०० श्लोकों वाले हीनयान के उस शास्त्र को देखे जिसमें

उड़ीसा प्रस्थान

महायान का खण्डन किया गया था। वहाँ पहुँच कर उसने उस ग्रंथ की परीक्षा की। उसमें उसे अनेक अप्रमाणिक बातें मिलीं।

उसने उस ब्राह्मण से पूछा, जिसे उसने परास्त किया था, "तुमने कभी इस शास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था ?" ब्राह्मण ने

उत्तर दिया, "हाँ, मैंने इसे पाँच बार पढ़ा था।" आचार्य ने कहा, "तो इन अंशों को मुझे समझाओ।" उसने उत्तर दिया, "मैं आपका दास हूँ मैं यह धृष्टता कैसे कर सकता हूँ।" आचार्य ने आग्रह किया, "ये विधर्मियों के सिद्धान्त हैं मैंने इन्हें अध्ययन नहीं किया है। तुम बिना किसी संकोच के इसे मुझे समझाओ।" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "अच्छी बात है तो आधी रात तक आप ठहरिये, नहीं तो लोग सुनेंगे तो समझेंगे कि आचार्य अपने दास से पढ़ रहे हैं और आप के प्रति उनकी श्रद्धा कम हो जायगी।"

तन्दुसार रात अधिक बीतने पर सब लोगों को बिदा कर उसने आचार्य को संपूर्ण ग्रन्थ की आवृति कराई।

आचार्य ने उस ग्रन्थ के दोषों को समझकर उसके खण्डन में एक १६०० श्लोकों का ग्रंथ लिखा। उसका नाम विधर्म-संहार रखा। इसमें उसने महायान के सिद्धान्तों का एक एक कर खण्डन किया था।

विधर्म-संहार

आचार्य ने इस ग्रन्थ को शीलभद्र को समपर्ण किया। उसके जितने शिष्यों ने इसे पढ़ा, सभी उसके तर्कों से सहमत हुए और कहने लगे, "इन्हें कौन काट सकता है'।"

आचार्य ने इस ग्रंथ के निर्वाण के मूल कारण को न भुलाकर उस ब्राह्मण से कहा, "शास्त्रार्थ में परास्त होकर तुमने हमारा दास बनकर यथेष्ट दंड भोग लिया अब मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। जहाँ चाहो जा सकते हो।"

ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ और वह कामरूप चला गया। यह देश पूर्वी भारत में है। यहाँ पहुँचकर उसने वहाँ के शासक कुमार-राजा से आचार्य की बड़ी प्रशंसा की। राजा यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने आचार्य को अपने यहाँ तुरन्त आने के लिए संदेश भेजा।

अध्याय ८

प्रस्थान के विषय में निर्ग्रंथ की भविष्यद्‌वाणी से चीन पहुँचने तक।

कुमार-राजा के दूत के आने के पूर्व एकाएक एक दिन वज्र नामक एक नग्न निर्ग्रंथ आचार्य सुयेन-च्वाँग के कमरे में पहुँचा। आचार्य सुयेन-च्वाँग ने सुन रखा था कि निर्ग्रंथ संप्रदायवाले भविष्य गणना में बड़े चतुर होते हैं। उसने उस व्यक्ति को बैठाया और उससे अपनी शंका पूछी और कहा, "चीनी भिक्षु सुयेन-च्वाँग यहाँ एक वर्ष कई मास से विद्याध्ययन कर रहा है। वह देश लौटना चाहता है परन्तु उसे पता नहीं कि वह देश लौट सकेगा वा उसके भाग्य में अभी यहाँ ठहरना लिखा है। यह संशय में पड़ा है। उसे पता नहीं कि उसकी आयु कितनी है। आप कृपा कर उसका जन्म फल बतलाइये।"

निर्ग्रंथ ने एक खड़िया लेकर भूमि पर रेखा खींची और गणना करके कहने लगा, "आचार्य का रहना ठीक है। आप के लिये इस जंबू-द्वीप में सब विद्वान भिक्षुओं के मन में श्रद्धा है। अपने देश को लौटना चाहो तो भी अच्छा शुभ अवसर है। पर पहली बात अधिक अच्छी है। रही आयु की बात अभी आप की आयु १० वर्ष और है और आप के वर्तमान सौभाग्य के विषय में कोई बात नहीं कही जा सकती।"

आचार्य ने उससे फिर पूछा, "मेरा विचार लौट जाने का है पर मेरे पास मूर्तियाँ और धर्म पुस्तकें बहुत हैं। मुझे पता नहीं कि मैं उन्हें सफलता पूर्वक ले जा सकूँगा?"

निग्रंथ ने उत्तर दिया, "इसकी चिंता मत करो। शिलादित्य राजा

और कुमार-राजा स्वयं आप के साथ आदमी कर देंगे और आप आनंद से लौट सकेंगे।"

आचार्य ने कहा, "इन दो राजाओं से तो मेरा परिचय भी नहीं है। भला वे मुझ पर इतनी कृपा क्यों करेंगे?"

निर्ग्रंथ ने उत्तर दिया, "कुमार-राजा के दूत तो चल चुके हैं और ये दो-तीन दिन में आप को बुलाने पहुँच जायँगे। कुमार-राजा से मिलने के बाद आप शिलादित्य से भी मिल सकेंगा।"

यह कहकर वह चला गया।

प्रस्थान निश्चय

आचार्य ने लौटना निश्चय किया और अपनी पुस्तकों और मूर्त्तियों को वह सहेजने लगा। प्रस्थान का समाचार सुनकर सब उपासक आचार्य के पास पहुँचे और उससे रुकने के लिये आग्रह करने लगे और कहने लगे, "भारत तो भगवान की जन्मभूमि है। तथागत् यद्यपि नहीं हैं पर उनके अनेक चिन्ह यहाँ वर्तमान हैं। इनके दर्शन-पूजन से बढ़कर जीवन में और क्या सुख हो सकता है। इतनी दूर आकर अब आप इन्हें छोड़कर कहाँ जाते हैं। चीन तो म्लेच्छ देश है। वहाँ छोटे लोग रहते हैं। उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हैं। इसी से वहाँ भगवान कभी अवतार नहीं लेंगे। उन लोगों की बुद्धि मंद हैं और वे गँवार हैं, इसी से यहाँ के भिक्षु वा महात्मा वहाँ नहीं जाते। सर्दी और बीहड़ रास्ता इन सब के सब भी आप को सोचना चाहिए।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "भगवान बुद्ध ने धर्म का उपदेश सारे संसार के लिये किया था तो क्या यही उचित है जो उसका लाभ उठा चुके हैं वे उन्हें धर्म से वञ्चित रखें जो अभी अज्ञान में पड़े हैं? चीन देश में बड़े-बड़े पदाधिकारी हैं। वे सब धर्म का आदर करते हैं। राजा का लोग आदर करते हैं। मंत्रि लोग स्वामिभक्त हैं, माता-पिता अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, लड़के माता-पिता का कहना मानते हैं। धर्म और

नीति का आदर होता है। वृद्ध और सच्चे लोगों का आदर होता है। और फिर वे लोग कितने विद्वान हैं—वे ज्योतिष के अच्छे जानने वाले हैं, वे लोग सात नक्षत्रों को शास्त्र के बाहर की बात नहीं मानते, वे यंत्र बनाते हैं, ऋतुओं का हिसाब रखते हैं, वे संगीत के षट्स्वरों को निकाल सकते हैं और पक्षियों को पाल सकते हैं, वे भूत पिशाचों को वश में रख सकते हैं, वे 'याँग' और 'इन' तत्वों के प्रभाव को शान्त कर सकते हैं।[१] बौद्ध धर्म का वहाँ प्रचार हुआ है। उन लोगों ने महायान की उपासना की है। योग में वे बढ़े-चढ़े हैं, आचार में उनकी ख्याति चारों ओर फैल चुकी है, अभ्यास में वे मन को वश में रख सकते हैं। उनके हृदय की अभिलाषा धर्म के उच्च शिखर पर पहुँचने की रहती है और वे शान्ति-पूर्वक मानसिक संन्यास से, त्रिविधि शरीर से मुक्त से होकर निर्वाण प्राप्ति की चेष्टा करते हैं।

"भगवान ने अवतार लेकर धर्म की ध्वजा ऊँची की और अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने यहाँ जन्म लेकर लोगों को अपना दर्शन दिया। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि आगे वे क्या करेंगे। फिर आप लोग क्यों कहते हैं कि भगवान हमारे देश को क्षुद्र समझकर वहाँ कभी जन्म नहीं लेंगे।"

उन लोगों ने उत्तर दिया, "शास्त्र कहते हैं कि सभी धर्म अपने गुणों और अवगुणों के कारण ऊँचे-नीचे होते हैं। आचार्य के लिये तो उचित है कि हम लोगों के साथ जंबूद्वीप में रहें जहाँ भगवान की जन्म-भूमि है। इसके बाहर सीमा प्रान्त पर के देश विधर्मी हैं। इसी हेतु हम लोग आप को ठहरने के लिए कहते हैं।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "विमलकीर्ति ने अपने शिष्यों से कहा था—"जानते हो सूर्य जंबूद्वीप के ऊपर क्यों चमकता है?" इस पर उसे

---

[१] इसका तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। अनु०

उत्तर मिला था कि "अंधकार नाश करने के लिए।" बस इसी हेतु मैं भी अपने देश लौटना चाहता हूँ।"

भिक्षुओं ने देखा कि आचार्य मानने वाला नहीं है तो उन लोगों ने उसे शीलभद्र के पास अपना विचार प्रकट करने को कहा। शीलभद्र ने आचार्य से पूछा, "आप ने ऐसा विचार क्यों किया है?"

शीलभद्र की अनुमति

आचार्य ने उत्तर दिया, "इस देश में भगवान ने जन्म लिया था। यह असंभव है कि मेरा इससे प्रेम न हो। मेरा विचार यहाँ आकर केवल अपने देशवासियों के निमित्त धर्मग्रंथों का अध्ययन करना था। यहाँ आने पर आप ने कृपा करके मुझे योगाचार-भूमि-शास्त्र पढ़ाया और मेरी शंकाएँ निवृत कीं। मैंने तीर्थ स्थानों के दर्शन कर लिये और भिन्न-भिन्न संप्रदायों के मतों का अध्ययन कर लिया। मुझे इस पर बड़ी प्रसन्नता है। यहाँ आने से मुझे अनेक लाभ हुए। अब मेरी इच्छा यहाँ से लौटकर उन ग्रंथों का अनुवाद करने और अपने देशवासियों को सुनाने का है जिसमें वे लोग भी मेरी भाँति आपके प्रति कृतज्ञ हों और इन विषयों को समझें। इन्ही कारणों से मैं अब लौटने में विलंब नहीं करना चाहता।"

शीलभद्र ने प्रसन्न होकर कहा, "ये विचार बोधिसत्व के विचारों के तुल्य हैं। मैं हृदय से तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी मनोकामना पूरी हो। मैं तुम्हारे लिए सवारी आदि का प्रबंध करा दूँगा।" शीलभद्र ने भिक्षुओं से कहा, "तुम लोग इन्हें रोककर विलंबन न करो।"

यह कहकर शीलभद्र अपने कमरे में चला गया। दो दिन पश्चात पूर्व-भारत के कुमार-राजा का दूत आ पहुँचा और उसने शीलभद्र को निम्नलिखित आशय का पत्र दिया।

"आपका शिष्य चीन से आये हुए श्रमण का दर्शन करना चाहता है। श्रीमान से मेरी प्रार्थना है कि उन्हें यहाँ भेजकर मुझे कृतार्थ करें।"

शीलभद्र ने पत्र पाकर लोगों से कहा, "कुमार-राजा ने सुयेन-च्वाँग को अपने यहाँ बुला भेजा है परन्तु हम लोगों ने पहले ही से निश्चय कर रखा है कि उसे शिलादित्य राजा के यहाँ हीनयान वालों से शास्त्रार्थ करने भेजें? यदि वह कुमार-राजा के यहाँ जायगा और शिलादित्य उसकी प्रतीक्षा करेगा तो उसका वहाँ पहुँचना कैसे संभव हो सकता है। अतः हम लोग उसे कुमार-राजा के यहाँ नहीं भेज सकते।" यह निश्चय करके उसने दूतों से कहा, "चीन देश का भिक्षुक अपने देश जाने के लिए उत्सुक है, अतः हम महाराज की आज्ञापालन करने में असमर्थ हैं।"

कुमार-राजा का निमंत्रण

दूत लोग लौटकर पहुँचे तो राजा ने फिर दूसरे दूत भेजे और दोबारा निमंत्रण दिया और कहलाया, "आचार्य सुयेन-च्वाँग देश लौटना चाहता है तो भी हमारे यहाँ कुछ काल के लिए आ सकता है। उसके लौटने में कोई बाधा न होगी। मेरी आप से प्रार्थना है कि इस बार उसे स्वीकार कर लीजिये और उसे भेजना अस्वीकार न कीजिए।"

शीलभद्र ने इसे भी अस्वीकार कर दिया। इस पर राजा ने क्रुद्ध हो कर शीलभद्र को पत्र लिखकर भेजा और उसमें लिखा, "आपके दास ने सांसारिक मनुष्यों की भाँति जीवन व्यतीत किया है और अभी तक बौद्ध धर्म का उपदेश नहीं सुना है। एक विदेश से आये हुए भिक्षु का समाचार सुनकर मेरी आत्मा और मन आनंदित हो गया है और मेरे मन में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई है। परन्तु आप उसे बार-बार मेरे यहाँ आने से रोकते हैं मानो आप चाहते हैं कि संसार अज्ञान के अंधकार में पड़ा रहे। क्या आप जैसे सज्जन इसी प्रकार भगवान के धर्म को फैलाकर लोगों का उद्धारकर उन्हें मुक्ति प्रदान करायेंगे। आपके प्रति असीम आदर और भक्ति के कारण में पुनः पत्र लिखकर दूत भेजता हूँ। यदि दूत उसे (सुयेन-च्वाँग) लेकर नहीं आवेगा तो मेरा

दित्य को कोन्योध विजय कर लौटते समय यह समाचार मिला कि आचार्य सुयेन-च्वांग कुमार-राजा के यहाँ आया है। उसे आश्चर्य हुआ और उसने कहा, "मैं ने उसे आने के लिए कई बार लिखा परन्तु वह मेरे यहाँ नहीं आया। यह क्या बात है कि वह कुमार-राजा के यहाँ पहुँचा है।" उसने दूत द्वारा कुमार-राजा को कहलाया कि 'चीन के श्रमण को तुरन्त मेरे यहाँ भेज दो।'

कुमार-राजा नें उत्तर दिया, "आप मेरा सिर ले सकते हैं परन्तु आचार्य को अभी नहीं भेजूँगा।" दूतों ने आकर शिलादित्य को उत्तर कह सुनाया। उसे बड़ा क्रोध आया और उसने अपने आमात्यों को बुलाकर कहा, "कुमार-राजा मेरी उपेक्षा करता है। उसने कैसे ऐसा अशिष्ट उत्तर मुझे इस भिक्षु के बारे में भेजा?"

उसने तुरन्त दूसरे दूत से कहलवाया, "अच्छा तो इसी दूत के हाथ अपना सिर ही भेज दो।"

शिलादित्य का निमंत्रण

कुमार-राजा अपनी मूर्खता पर डर गया और उसने तुरन्त अपनी सेना के २०,००० हाथी और ३०,००० नावों को तैयार करने की आज्ञा दी और आचार्य को साथ लेकर वह गंगा के चढ़ाव पर चलकर उस स्थान पर पहुँचा जहाँ शिलादित्य राजा ठहरा था। 'कि-शु-हो-कि-लो' (कजुगिरि) देश पहुँचकर उसने मंत्रणा की और कुमार-राजा नें शिलादित्य से मिलने के पूर्व अपने अदमियों को आज्ञा दी कि गंगा के उत्तरीय तट पर पड़ाव तैयार करें। तब उसने शुभ दिन नदी से चलकर आचार्य को उसी पड़ाव में छोड़कर स्वयं अपने मंत्रियों के साथ राजा शिलादित्य से मिलने गंगा के उत्तरी तट पर गया।

शिलादित्य उसे देखकर आनंदित हुआ और उसने कुमार की आचार्य के प्रति प्रेम और भक्ति स्मरण कर उसे फिर धमकी न दी और केवल इतना ही पूछा कि वह चीन का श्रमण कहाँ ठहरा है।

वहाँ पहुँच कर राजा शिलादित्य ने आचार्य को प्रणाम किया और फूल चढ़ाकर उसकी पूजा और स्तुति की। इसके पश्चात उसने सुयेन-च्वाँग से पूछा, "आपके दास ने आपके दर्शनों की कई बार प्रार्थना की। क्या कारण है कि आपने हमारी प्रार्थना नहीं स्वीकार की।"

शिलादित्य से भेंट

आचार्य ने उत्तर दिया, "सुयेन-च्वाँग इतने दूर से धर्म की जिज्ञासा के हेतु आया था और उसकी इच्छा योग-शास्त्र अध्ययन करने की थी। जब आपने मुझे बलाया था उस समय मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ था।"

राजा ने फिर पूछा, "आप चीन निवासी हैं। मैंने सुना है कि वहाँ 'सिन' देश के कोई राजा हैं जिनका यश लोग गीत बनाकर बाजे और नाच के साथ गाते फिरते हैं। मुझे नहीं पता यह कौन 'सिन'(Ts'in) चीन के राजा हैं। उन्होंने क्या किया था जिसके कारण उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई है?[1]"

आचार्य ने उत्तर दिया, "हमारे देश में जब देखा जाता है कि अमुक व्यक्ति (राजा) धर्म की रक्षा करता है, लोगों को विपत्ति से बचाता है और प्रजा का लालन-पालन करता है, तब लोग उसके उपलक्ष्य में गीत बनाते हैं और नाच बाजे के साथ उसे प्राचीन मंदिरों में गाते हैं। बाद को सर्वसाधारण भी उसे गाने लगते हैं। यह चीन का राजा वही है जो इस समय वहाँ का सम्राट है। परन्तु सम्राट के शासन काल के स्थापित होने के पूर्व वह चीन देश का एक कुमार था। इस समय वहाँ देश भर में विप्लव मचा था। कोई स्थाई शासन न था। चारों ओर लाशों की ढेर पड़ी थी। नदियाँ और घाटियाँ रक्त से भर गई थीं। रात को अशुभ नक्षत्र देख पड़ते थे। दिन में अंधकार रहता था।

---

[1]इससे तात्पर्य 'शि-वाँग-ती' सम्राट से है। इसका समय ई० पूर्व २२१ है।

तीनों नदियों में बटपार भरे पड़े थे और चारों समुद्रों में भयानक विषैले सर्प बड़ा कष्ट पहुँचा रहे थे।"

"कुमार ने, जो राजा के वंश के थे, ऐसे समय में ईश्वर की आज्ञा मान कर सद्विचार से अपनी सेना लेकर दुष्टों का दमन किया। लोगों के अस्त्र छीन लिये और उपद्रव शान्त किया और समुद्र, गाँव, तथा जनपद में नियमित शासन स्थापित किया। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र फिर निकल आये और सारा देश उनके प्रजा-पालन के लिए कृतज्ञता से भर गया। इसी कारण लोग उनका यश गाते फिरते हैं।"

राजा शिलादित्य ने कहा, "ऐसे आदमी को तो अवतार समझना चाहिए।" फिर उसने आचार्य से कहा, "अब तो दास लौटना चाहता है। कल मैं आप को बुलाने आदमी भेजूँगा। आप को अधिक कष्ट तो न होगा।" यह कह कर वह विदा ले कर चला गया।

प्रातःकाल दूत आया और आचार्य कुमार-राजा के साथ शिलादित्य के आवास पर पहुँचा। राजा शिलादित्य बीस आमात्यों को लेकर उसका स्वागत करने आया। वहाँ पहुँचकर, आचार्य के सामने अनेक प्रकार के व्यंजन रखे गये, बाजे बजते रहे और फूलों की वर्षा होती रही।

इसके उपरान्त राजा ने पूछा, "मैंने सुना है कि आचार्य ने विधर्मियों के सिद्धान्तों के खण्डन में कोई ग्रंथ निर्माण किया है वह ग्रंथ कहाँ है?"

आचार्य ने उत्तर दिया, "यह लीजिये।" और उसने राजा को ग्रंथ देखने के लिए दिया।

उसे देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपने आमात्यों और उपस्थित जनों से कहा, "मैंने सुना है कि सूर्य के निकलने पर जुगुनू की ज्योति मन्द पड़ जाती है और मेघ के गर्जन के सामने हथौड़े की खटखट लुप्त हो जाती है। जिन सिद्धान्तों का आप मण्डन कर रहे हैं उनसे तो सारे विरोधी सिद्धान्त नष्ट हो गये हैं और जिस सद्धर्म की

आप व्याख्या कर रहे हैं उनके सामने किसी विरोधी पक्ष वाले को एक शब्द भी कहने का साहस न होगा।"

राजा ने फिर कहा, "महास्थविर देवसेन कहा करता था कि मैं शास्त्रों की व्याख्या करने में सारे विद्वानों से बढ़ कर हूँ और मैंने सभी विद्याओं का अध्ययन किया है। परन्तु यह सब होते हुए भी वह महायान का विरोध किया करता था। पर वह भी एक विदेशी विद्वान का आगमन सुनकर आपसे मिलने वैशाली गया। इसी से मुझे अनुमान हो गया कि इन सब विद्वानों में शास्त्रार्थ करने की योग्यता नहीं है।"

राजा की बहन बड़ी चतुर और विद्वान थी। यह सम्मतीय संप्रदाय के सिद्धान्तों की पूर्ण ज्ञाता थी। वह राजा के पास बैठी हुई थी। जब उसने आचार्य को महायान के सिद्धान्तों का मण्डन करते और हीनयान के सिद्धान्तों का खण्डन करते सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुई और उसने आचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

राजा ने फिर कहा, "आपका ग्रंथ बड़ा सुन्दर है। इसको पढ़कर मैं और ये सारे भक्त और विद्वान सभी लोग संतुष्ट हो गये हैं। परन्तु मुझे भय है कि अन्य देशों में अभी भी कुछ ऐसे हीनयान के अंधभक्त हैं जो अपने मिथ्या मतों का समर्थ करेंगे।

मेरा विचार है कि कान्यकुब्ज में एक महापरिषद् बुलाई जाय और इसमें पाँचों द्वीप के सभी विद्वान, श्रमण, ब्राह्मण, विधर्मी आदि एकत्र हों। इसमें आप उनकी मूर्खता और अहम्मन्यता चूर्ण करने के निमित्त तथा अपने महायान के सिद्धान्तों की श्रेष्टता प्रमाणित करने के निमित्त अपने सिद्धान्तों का मण्डन करें और अपनी योग्यता का परिचय दें।"

उसी दिन राजा ने देश-देश के राजाओं के पास दूत भेज दिये

परिषद का प्रस्ताव

कि वे अपने यहाँ के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के अनुयायियों को कान्यकुब्ज भेजें जिसमें वे वहाँ पहुँचकर

महापरिषद में सम्मिलित हों और चीन के श्रमण के साथ विचार करें।

आचार्य राजा के साथ शरद के आरंभ में नदी के चढ़ाव पर यात्रा करके वर्ष के अन्तिम मास में नियमित स्थान पर (कान्यकुब्ज) पहुँचा[1]।

वहाँ पहले ही से भारत के १८ राजे[2], हीनयान और महायान के ३००० भिक्षु, बहुत से ब्राह्मण, निग्रंथ और लगभग १००० नालंद के विद्वान उपस्थित थे। ये सब विद्वान धर्म पर शास्त्रार्थ करने के हेतु एकत्र हुए थे। उनके साथ शिष्य थे। कोई हाथी पर, कोई रथ पर कोई पालकी और कोई नालकी पर आये थे। सब के अपने अपने नौकर-चाकर थे। इनका विचित्र पहनावा था। इनकी संख्या अगणित थी। शरद के बादल के समान वे चारों ओर फैले हुए थे। यदि यह कहा जाय कि मानों 'वू'[3] जाति की विद्रोही सेना एकत्र हो गई है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अथवा यों कहें कि मानों समुद्र उथल रहा था।

महापरिषद्

राजा ने पहले ही से दो पर्णशालाएँ बनवाने की आज्ञा दे रखी थी जिसमें भगवान की मूर्ति और विद्वानों को ठहराया जा सके। जब वह पहुँचा तो दोनों तय्यार थीं। ये बड़ी ऊँची और लंबी चौड़ी थीं। इनमें १००० मनुष्य बैठ सकते थे। राजा का पड़ाव, इसके पश्चिम करीब, ५ ली पर था। इसमें एक ढली हुई सोने की प्रतिमा रखी गई थी। उसने आज्ञा दी कि एक बड़े हाथी के ऊपर रत्नजड़ित अमारी कसकर उस पर भगवान की मूर्ति रखी जाय। तब शिलादित्य राजा शक्र बनकर सफ़ेद चँवर हाथ में लेकर दाहिने बग़ल और कुमार-राजा ब्रह्मा बनकर हाथ में बहुमूल्य

---

[1] 'यात्रा' से पता चलता है कि संपूर्ण यात्रा में ३ मास (९० दिन) लगे थे। अनु०।

[2] 'सि-यू-की' के अनुसार बीस राजे थे। बील।

[3] यह अंश मूल ग्रंथ में मिटा हुआ है अतः स्पष्ट नहीं है। बील।

छत्र लेकर बाईं तरफ़ होकर चले। देवताओं की भाँति उन्होंने मुकुट पहने और फूलों और मणियों की मालाएँ पहनी।

इसके अतिरिक्त दो और हाथी कसे गये और उन पर रत्न, पुष्प लाद कर मूर्ति के पीछे चलने को कहा गया और उस पर से प्रत्येक पग पर पुष्प वर्षा की जाती थी।

आचार्य और राजा के प्रधान आमात्य सब हाथी पर बैठकर राजा के पीछे-पीछे चले। उनके पीछे और ३०० हाथी थे जिन पर अन्य राजे, विद्वान, भिक्षु और मंत्रिगण थे। ये लोग दो-दो करके चले और रास्ते भर स्तुति पाठ करते जाते थे। प्रातःकाल जुलूस (यात्रा) राजा के आवास से चला। परिषद् भूमि में पहुँचने पर सब लोग उतर गये और वे बुद्ध की प्रतिमा को परिषद्-मण्डप में ले गये और वहाँ उसे एक बहुमूल्य सिंहासन पर रखा और राजा और आचार्य सुयेन-च्वाँग आदि ने यथाक्रम उसकी पूजा की।

इसके पश्चात् राजा ने १८ देशों के राजाओं को भीतर बुलाया। इसके पश्चात् चुने हुए १००० विद्वान भीतर आये, ब्राह्मणों, निग्रंथों तथा अन्य विधर्मियों में से ५०० चुने हुए और भिन्न-भिन्न राजाओं के मंत्रियों में से २०० चुने हुए भीतर बैठाये गये। विधर्मी तथा अन्य यती जो भीतर नहीं जा सके थे वे परिषद्-मण्डप के बाहर बैठाये गये।

राजा ने सब बाहर-भीतर के लोगों को भोजन भेजा। इसके पश्चात उसने भगवान बुद्ध को एक सोने का थाल, एक प्याला, सात सोने के जलपात्र, एक स्वर्णदण्ड, ३००० स्वर्णमुद्रा और ३००० बढ़िया वस्त्र चढ़ाया।

आचार्य तथा अन्य भिक्षुओं ने अपनी योग्यता अनुसार चढ़ाये। इसके पश्चात राजा ने एक बढ़िया आसन मंगवाकर आचार्य से कहा कि आप प्रधानवक्ता का आसन ग्रहण करें। आचार्य ने महायान के सिद्धान्तों का मण्डन आरंभ किया और उसने शास्त्रार्थ के लिए अपना

पक्ष घोषित किया और नालंद के एक 'मिंग-हीन' नामक श्रमण को आज्ञा दी कि वह प्रत्येक उपस्थित विद्वान को यह बतला दे। उसने एक तख्ती पर लिखाकर वह विषय परिषद के बाहर द्वार पर लटकवा दिया जिसमें सब लोगों को मालूम हो जाय। उसमें लिखा था—"यदि कोई भी इन सिद्धान्तों में कोई दोष निकाल सके और शास्त्रार्थ कर सके तो उसके माँगने पर मैं (आचार्य) अपना सिर देने को तैयार हूँ।"

रात तक कोई उनका प्रतिवाद करने नहीं आया। शिलादित्य राजा इसपर बड़ा प्रसन्न हुआ और वह परिषद् को विसर्जित करके अपने निवासस्थान को लौट आया। राजे तथा विद्वान लोग अपने अपने डेरे को लौट गये। कुमार राजा और आचार्य सुयेन-च्वाँग भी अपने अपने स्थान को लौट गये।

दूसरे दिन फिर इसी प्रकार प्रतिमा का जलूस, राजाओं तथा अन्य लोगों के साथ निकाली गई।

पाँच दिन पश्चात विधर्मियों ने अपने सिद्धान्तों को पराजित समझकर ईर्षावश आचार्य के विरुद्ध षट्यंत्र रचना आरंभ किया।

षड्यंत्र

राजा शिलादित्य को इसका समाचार मिला। उसने घोषणा की, "यह सदा से चला आया है कि अज्ञान सच्चे ज्ञान को ग्रसना चाहता है और मिथ्या सिद्धान्तों के माननेवाले सत्य को छिपाकर लोगों को धोका देना चाहते हैं। यदि संसार में ज्ञानी लोग न हों तो उनके मिथ्या ज्ञान को कौन प्रकट करेगा? चीन देश के आचार्य, जिनकी अध्यात्म-शक्ति बढ़ी-चढ़ी है, जिनकी व्याख्या करने की प्रतिभा अद्भुत और गंभीर है, लोगों के मिथ्या ज्ञान का खण्डन करने के लिए यहाँ आये हैं जिसमें धर्म का सच्चा स्वरूप स्थापित हो और मूर्ख और मिथ्या ज्ञान में पड़े हुए लोगों की रक्षा हो। परन्तु मिथ्या और भ्रमात्मक सिद्धान्तों के माननेवाले अपने अज्ञान पर पश्चाताप न कर उनके

विरुद्ध षट्यंत्र रच रहे हैं और उनके प्राण लेना चाहते हैं। इस विचार को सुनकर सबको रोष उत्पन्न होना चाहिए। यदि कोई आचार्य को छूने तक का साहस करेगा तो उसका सिर काट लिया जायगा। जो कोई उसके विरुद्ध बातें करेगा उसकी जिह्वा काट ली जायगी। परन्तु जो कोई इसकी शिक्षाओं से लाभ उठाना चाहते हों उसे मैं विश्वास दिलाता हूँ कि उसे इस घोषणा से भयभीत न होना चाहिए।"

इसके बाद मिथ्यावादी भाग खड़े हुए और १८ दिन बीत गये कोई शास्त्रार्थ करने नहीं आया।

परिषद्-समाप्ति

परिषद के समाप्त होने की संध्या को आचार्य ने पुनः महायान के सिद्धान्तों का मण्डन किया और भगवान के धर्म की प्रशंसा की। फलतः बहुतों का अज्ञान नष्ट हुआ और वे सद्धर्म पर आ गये। हीनयान को त्याग कर उन्हें महायान में शरण मिला।

शिलादित्य राजा ने आचार्य के सम्मानार्थ उसे १०,००० स्वर्ण मुद्राएँ, ३०,००० चांदी के सिक्के और १०० सूती वस्त्र देकर उसकी पूजा की। १८ देशाओं के राजों ने भी अनेक बहुमूल्य रत्न दिये। परन्तु आचार्य ने इन सबको लेना अस्वीकार किया।

राजा ने अपने आमात्यों को आज्ञा दी कि एक हाथी पर हौदा रखवायें। और फिर उसने आचार्य से प्रार्थना की कि वह उस पर सवार हों। मंत्रियों को साथ में करके उसने जलूस निकालने की आज्ञा दी। आगे-आगे यह घोषणा होती चलती थी, "आचार्य ने सद्धर्म की पताका पहराई है। किसी को उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ।"

यह भारत की प्राचीन रीति है कि जब कोई विद्वान शास्त्रार्थ में विजयी होता है तो उसका जलूस निकालते हैं।

आचार्य जलूस निकालना नहीं स्वीकार करता था पर राजा ने उससे कहा, "यह हमारे देश की प्राचीन प्रथा रही है। इसकी उपेक्षा

करना असंभव है।" आचार्य का कषाय वस्त्र पकड़कर लोगों ने यह घोषित किया, "चीन देश के आचार्य ने महायान के सिद्धान्तों को स्थापित किया है और हीनयान का खण्डन किया है। १८ दिन तक कोई उससे शास्त्रार्थ करने नहीं आया। यह सब लोगों को सर्वत्र मालूम होना चाहिए।"

सब लोग आचार्य की जीत पर बड़े प्रसन्न थे और उनकी इच्छा थी कि आचार्य को कोई उपाधि इस संबंध में दी जाय।

उपाधि प्रदान

महायान के संघ ने उसे 'महायानदेव' अर्थात् महायान के देवता कहना आरंभ किया। 'हीनयान' के भिक्षुओं ने उसे 'मोक्ष-देव' अर्थात् 'मुक्ति देने वाला' की उपाधि दी। उन लोगों ने तब सुगंध जलाकर, फूल चढ़ा कर उसकी पूजा की और उससे विदा लेकर चले गये।

इस समय से उसकी ख्याति चारों ओर दूर-दूर फैली। राजा शिलादित्य के आवास के पश्चिम एक संघाराम था जो स्वयं राजा की संरक्षा में था। इसमें भगवान बुद्ध का दाँत था जो १½ इंच लंबा और पीत-श्वेत रंग का था। इसमें से सदा ज्योति निकलती रहती थी।

बुद्ध के दाँत

प्राचीन समय में जब कृत्य वंश ने काशमीर में बौद्ध धर्म को नष्ट कर दिया और भिक्षु और उपासक चारों ओर भाग खड़े हुए तो उस समय एक भिक्षु सुदूर भारत में आया। उसके शिष्य हिमताल (तुषार) के राजा को यह सुनकर कि उस नीच (कृत्य) वंश ने भगवान के धर्म का नाश किया है बड़ा क्रोध आया और वह ३००० सैनिकों को व्यापारी के वेश में साथ लेकर राजा को बहुमूल्य रत्नों का उपहार देने के बहाने वहाँ (काशमीर) पहुँचा।

राजा बड़ा लालची था। उसने इन लोगों का आना सुनकर उन्हें अपने दरबार में बुला भेजा।

हिमताल का राजा वीर और क्रोधी प्रकृति का आदमी था। उसका रूप देवताओं जैसा था। जब वह राजा के दरबार में पहुँचा तो उसने सिंहासन के निकट पहुँच कर अपना शिरस्त्राण उठा कर राजा की अवज्ञा की। राजा उसे पहचान कर घबरा गया और सिंहासन से उठते ही वह नीचे गिर पड़ा।

हिमताल के राजा

हिमताल के राजा ने उसका सिर काट लिया और मंत्रियों को संबोधन करके उसने कहा, "मैं हिमताल का राजा हूँ। यह सुनकर कि तुम्हारे दुष्ट राजा ने सद्धर्म का नाश किया है मैं यहाँ आया हूँ कि तुम लोगों को दण्ड दूँ। परन्तु यह एक ही व्यक्ति के दोष का परिणाम था इस लिए सब को दण्ड देना ठीक नहीं है। तुम लोग निर्भय रहो। मैं केवल उन्हें राज्य के बाहर निकल जाने की आज्ञा देता हूँ जिनकी अनुमति से राजा ने यह अपराध किया था। शेष लोगों से मैं कुछ नहीं चाहता।" उन दुष्टों को निकालकर उसने वहाँ एक संघाराम बनवाया और भिक्षुओं को एकत्र कर उसे उन्हें समपर्ण कर, वह अपने देश लौट गया।"

उपरोक्त भिक्षु जो भारत चला गया था यह सुनकर कि उसके देश में शान्ति स्थापित हो गई है हाथ में दण्ड लेकर अपने देश लौटने लगा। रास्तों में उसे एक हाथियों का झुण्ड अपनी ओर चिघाड़ते हुए आते मिला। भिक्षु उन्हें देखकर एक वृक्ष पर छिपने के लिए चढ़ गया। हाथी अपने सूण्डों से पानी लाकर उस वृक्ष की जड़ में देने लगे और फिर उन सबने अपने दाँतों से उसका जड़ खोद कर उसे गिरा दिया। हाथी तब भिक्षु को सूण्ड से उठा कर उसे अपने झुण्ड के एक हाथी की पीठ पर चढ़ा कर ले चले। जंगल के बीच में वे उस भिक्षु को लेकर पहुँचे जहाँ एक घाव से पीड़ित बीमार हाथी पड़ा था। बीमार हाथी ने भिक्षु का हाथ पकड़ कर वह स्थान बतलाया जहाँ उसे पीड़ा हो रही थी। सूजे हुए स्थान

हाथियों की कथा

की परीक्षा करते हुए भिक्षु ने देखा कि उसमें बाँस की एक खपाची गड़ी थी। उसने उसे निकाल कर, रक्त को धोकर, अपना कषायवस्त्र फाड़ कर पट्टी बाँध दी। हाथी धीरे-धीरे अच्छा हो गया। दूसरे दिन झुण्ड के सब हाथी फल ढूँढ़ कर ले आये और उन्होंने बड़ी भक्ति से भिक्षु को अर्पण किया। भिक्षु के भोजन कर लेने पर एक हाथी ने एक सोने का संपुट लाकर उस आहत हाथी को दिया। उसने उस संपुट को भिक्षु को प्रदान किया। भिक्षु ने उसे ले लिया। तब सब झुण्ड के हाथी उसे जंगल के बाहर ले गये और उसी स्थान पर उसे पहुँचा दिया जहाँ से वे उसे ले आये थे। वहाँ पहुँचा कर उन सब ने उसे झुक कर प्रणाम किया और लौट आये।

भिक्षु ने जब संपुट को खोला तो उसमें उसने बुद्ध भगवान का एक दाँत पाया। उसे अपने देश ले जाकर वह उसकी पूजा करने लगा।

आधुनिक काल में जब राजा शिलादित्य को यह समाचार मिला कि काशमीर देश में भगवान का दाँत है तो वह स्वयं उस देश की सीमा पर आया और उसे देखने की प्रार्थना की। भिक्षुसंघ ईर्षावश उसे नहीं देखाना चाहता था। इस लिए उन लोगों ने उसे छिपा दिया। परन्तु वहाँ के राजा ने शिलादित्य के भय से उसे ढूँढ़वाना आरंभ किया। अंत में उसे वह दाँत मिल गया। उसे लेकर राजा ने शिलादित्य को दिया। शिलादित्य को उसे देखकर बड़ी भक्ति और आकर्षण हुआ और वह उसे पूजा करने के निमित्त साथ ले आया। इसी दाँत के विषय में ऊपर चर्चा की गई है।

प्रस्थान

परिषद् को बिदा कर राजा शिलादित्य ने संघाराम को वह सोने की प्रतिमा प्रदान कर दी जो उसने बनवाया था और साथ में वस्त्रादि और धन भी दे दिया और भिक्षुओं को पचेत कर दिया कि वे उसकी रक्षा करेंगे।

आचार्य सुयेन-च्वांग नालंद के महास्थविर से पहले ही बिदा ले चुका था और अपनी पुस्तकें और मूर्तियाँ ले चुका था। परिषद् समाप्त होने पर उन्नीसवें दिन वह देश लौटने के निमित्त राजा से बिदा लेने के हेतु उसे आर्शीवाद देने गया।

राजा (शिलादित्य) ने कहा, "आप का शिष्य राजा पाकर ३० वर्ष या कुछ अधिक समय से भारत पर शासन कर रहा है। अपने पूर्व जन्मों के थोड़े पुण्यों के कारण मेरी धर्म में अधिक श्रद्धा नहीं हो पाई। इसका मुझे सदा दुख रहा। इसी हेतु मैंने प्रयाग जनपद में बहुत सा धन दोनों नदियों के तट पर एकत्र किया है और मैंने हर पाँचवें वर्ष महाधर्मपरिषद् करने का नियम किया है। इसमें भारत भर के श्रमण और ब्राह्मण निमंत्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त निर्धन, अनाथ और अपाहिज आते हैं। इस अवसर पर ७५ दिन तक दान दिया जाता है, जिसे 'मोक्ष' कहते हैं। मैं पाँच परिषद् बुला चुका हूँ। अब यह छठीं बुलाने जा रहा हूँ। आप तब तक के लिए ठहर क्यों नहीं जाते और उसमें सम्मिलित होते और हम लोगों के आनन्द में भाग लेते।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "बोधिसत्व ने अपने धर्माचरण और ज्ञान से अपने पद को प्राप्त किया था। विद्वान लोग उससे लाभ उठाकर उनको नहीं भुला देते। यदि आप दूसरों के उपकार के निमित्त अपने धन की चिंता नहीं करते तो सुयेन-च्वांग कुछ दिन ठहरने में कैसे आनाकानी कर सकता है। मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने साथ ले चलें।"

यह सुनकर राजा बड़ा आनन्दित हुआ और इक्कीसवें दिन उसे लेकर वह प्रयाग जनपद के लिए रवाना हुआ और महापरिषद् के स्थान पर पहुँचा। उसके उत्तर में गंगा और दक्षिण में जमुना नदी है। ये दो नदियाँ उत्तर पश्चिम से पूर्व की ओर बहकर यहाँ मिलती हैं। संगम के पश्चिम में एक बड़ा मैदान है

प्रयाग

जो १४ या १५ ली घेरे में है। यह समतल और आइने (दर्पण) की भाँति बराबर है। प्राचीन काल से राजा लोग यहाँ दान करने आया करते हैं। इसी से इसका नाम 'महा-दान-क्षेत्र' पड़ा है। लोग कहते हैं कि यहाँ एक पैसा देना और स्थान पर हजारों के देने के बराबर है। इसी से प्राचीन काल से इस स्थान की महिमा रही है।

राजा ने आज्ञा दी कि इस मैदान में दान करने के लिए एक चौकोर बाड़ा बनवाया जाय जो एक एक ओर १००० पग हो और चारों ओर से बाँसों से घिरा हो। इसके बीच में बहुत सी फूस की झोप-ड़ियाँ बनवाई जाँय जिसमें दान देने की वस्तुएँ जैसे सोना, चाँदी, मोती, नग, इन्द्रनील, मुक्ता (मणि ?) महानील मुक्ता आदि रखी जायँ। इसी की बगल में और सैकड़ों गोदाम बनें थे जिसमें रेशमी-सूती कपड़े, चाँदी सोने के सिक्के आदि रखे गये।

बाड़े के बाहर उसने भोजनालय (सत्र) बनवाये। इन भण्डारों के सामने राजा ने सैकड़ों पंक्ति में बाज़ार की भाँति पर्णशालाएँ बन-वाई जिसमें हजारों आदमी विश्राम कर सकें।

यह सब प्रबंध करने के पहले राजा ने विज्ञप्ति द्वारा पाँचों द्वीपों के श्रमणों, विधर्मियों, निग्रंथों, दीन, अनाथ, दुखियों आदि को दान-क्षेत्र में आकर दान लेने का निमंत्रण दे रखा था।

आचार्य ने कान्यकुब्ज परिषद के समाप्त होते ही वहाँ के लिए प्रस्थान किया था। १८ देशों के राजा लोग भी अपने दल बल सहित आ पहुँचे। वहाँ पहुँचने से पहले वहाँ पर ५ लाख आदमी एकत्र मिले।

शिलादित्य राजा ने गंगा से उत्तरीय तट पर अपना डेरा डाला। दक्षिण भारत के राजा 'तु-लु-पो-पा-चा' (ध्रुव भट्ट) ने संगम के पश्चिम अपना स्थान रखा। कुमार-राजा ने जमुना के दक्षिण पुष्प-वाटिका में डेरा डाला। दान लेने वाले लोग ध्रुवभट्ट राजा के डेरे के पश्चिम ठहरे।

महादान-क्षेत्र का कार्यक्रम

दूसरे दिन प्रातःकाल शिलादित्य राजा और कुमार-राजा के सैनिक-गण नावों पर चले। ध्रुवभट्ट राजा के सैनिक हाथियों पर चढ़कर चले। इस प्रकार ठाट-बाट से वे लोग 'दान-क्षेत्र' के स्थान पर पहुँचे। अठारहों देश के राजा लोग भी यथाविधि जलूस में सम्मिलित हुए।

पहले दिन के प्रथम पहर उन लोगों ने भगवान की प्रतिमा महा-दान क्षेत्र के एक छप्परवाले घर में स्थापित की। फिर सर्वोत्तम मणि, रत्न, वस्त्र, मिष्टान्न आदि दान दिया गया और फूल आदि की वर्षा हुई और बाजे बजे। दिन समाप्त होते पर वे लोग अपने अपने डेरों पर लौट गये।

दूसरे दिन उन लोगों ने 'आदित्य देव' की मूर्ति स्थापित की और पहले दिन की अपेक्षा आधा वस्त्राभूषण आदि दान दिया गया।

तीसरे दिन 'ईश्वर देव' की प्रतिमा स्थापित की गई और पूर्व दिवस की भाँति दान दिया गया।

चौथे दिन १०,००० साधुओं को सौ-सौ की पंक्ति में बैठाकर दान दिया गया। प्रत्येक को १०० स्वर्णमुद्रा, एक मोती, एक सूती वस्त्र, नाना प्रकार के खाद्य और पेय, पुष्प और सुगंध आदि मिले। इसके पश्चात लोग लौट आये।

पाँचवाँ कार्य यह हुआ कि ब्राह्मणों को बीस दिन तक दान दिया गया।

छठवाँ कार्य यह था कि विधर्मियों को १० दिन तक दान बाँटा गया। उसके पश्चात उन्हें दस दिन तक दान दिया गया जो दूर दूर से मेले में आये थे।

आठवाँ कार्य यह हुआ कि निर्धनों, अनाथों और अपाहिजों को एक मास तक वस्त्रादि बाँटे गये।

इस तरह पाँच वर्ष का एकत्र किया हुआ धन बाँट दिया गया। केवल घोड़े, हाथी और सेना के सामान रह गये जो राजा के लिए आवश्यक थे। राजा ने स्वयं अपना आभूषण, रत्न, वस्त्र, यहाँ तक कि अपने कान का कुण्डल, अपना हार, केयूर, कंकण, कंठा, मुकुट-मणि आदि तक उठाकर दान कर दिया।

जब उसके पास कुछ न रहा तो उसने अपनी बहन से एक पुराना वस्त्र माँगा और उसे पहन कर उसने दशों लोकों के बुद्ध भगवान की पूजा की और आनन्द में मग्न होकर हाथ जोड़कर कहा, "यह सब धन एकत्र करके मैं सदा यही सोचा करता था कि ये सुरक्षित स्थान में नहीं रखे हैं। परन्तु अब धर्म कार्य में सब दान देकर मुझे निश्चय हो गया कि ये अच्छी तरह सुरक्षित हो गये, मेरी यही अभिलाषा है मैं अनेक आनेवाले जन्मों में इसी भाँति अपना सारा धन लोगों को दान देता रहूँ और इसी प्रकार (बुद्ध से) 'दशबलों' को प्राप्त करूँ।"

दोनों परिषद् (कान्यकुब्ज और प्रयाग) समाप्त होने पर अन्य देशों के राजाओं ने लोगों को अपने पास से धन देकर शिलादित्य का हार, मुद्रा, राजसी वस्त्र आदि लौटाया और उन्हें राजा को ले जाकर दिया। राजा ने कुछ दिन पश्चात् उन्हें फिर दान कर दिया।

अब आचार्य ने राजा से अपने देश लौटने की आज्ञा माँगी।

प्रस्थान का विचार

राजा शिलादित्य ने कहा, "मैं भी आप की तरह भगवान के धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ। तो आप क्यों इतनी जल्दी देश लौटते हैं?"

इस पर सुयेन-च्वाँग और १० दिन ठहर गया।

कुमार-राजा भी उसके प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था। उसने आचार्य से कहा, "यदि आचार्य मेरे राज्य में चलकर रहें और मेरी पूजा स्वीकार करें तो मैं आचार्य के लिए १०० संघाराम बनवा दूँगा।"

सुयेन-च्वाँग ने यह देखकर कि राजा लोग उसे जाने देना नहीं

चाहते तो उसे बड़ा दुख हुआ और उसने कहा, "हमारा चीन देश यहाँ से बहुत दूर है और वहाँ भगवान बुद्ध का धर्म अभी थोड़े ही दिन हुए फैला है। यद्यपि उन लोगों को धर्म का ज्ञान हो गया है पर अभी उन लोगों ने धर्म को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया है। इसी हेतु मैं यहाँ ग्रंथों का अध्ययन करने आया था कि लौटकर विवादात्मक विषयों का समाधान करूँगा। अब मैं अपना मनोरथ पूर्ण कर चुका हूँ। मेरे देश के विद्वान मुझ से अपनी शंकाएँ निवारण करने के लिए उत्सुक होंगे। इस लिए विलंब करना उचित नहीं जान पड़ता। सूत्रकारों का कहना भी है—कि जो धर्म के अध्ययन में बाधा डालता है वह जन्म-जन्म अंधा पैदा होता है। यदि आप मुझ को रोक रखेंगे तो आप अगणित भिक्षुओं को ज्ञान-लाभ से वंचित करने के कारण होंगे। आप तब सूत्रोक्त वचनों के अभिशाप से कैसे बच सकेंगे?"

राजा ने उत्तर दिया, "हम लोग आप की बड़ी श्रद्धा और भक्ति करते हैं और हम सदा आपकी सेवा करने को तत्पर हैं। इतने लोगों के लाभ में बाधा होना हम लोग नहीं चाहते। हम आप पर छोड़ते हैं—जैसा आप उचित समझें करें, रहें वा प्रस्थान करें। परन्तु नहीं मालूम कि आप कौन से रास्ते मे देश जाना चाहते हैं। यदि आप दक्षिण [जावा, सुमात्रा द्वीप से होकर] समुद्र मार्ग से जाना चाहते हों तो मैं आपके साथ राजकर्मचारी कर दूँ।"

आचार्य ने उत्तर दिया, "जब मैं, चीन देश से चला और देश की पश्चिम सीमा पर पहुँचा तो मुझे वहाँ 'कॉउ-चाऊ' देश मिला। यहाँ का राजा बड़ा उदार और धर्मभीरु है। जब उसे ज्ञात हुआ कि मैं धर्म की खोज में उसके देश में पहुँचा हूँ तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने मुझे बड़ी उदारता से आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कीं और मुझसे प्रार्थना की कि लौटते समय मेरे देश में एक बार अवश्य आइयेगा।

मेरा हृदय उसकी उपेक्षा करने में असमर्थ है। इस हेतु मैं उत्तरीय मार्ग से प्रस्थान करूँगा।"

राजा ने कहा, "अच्छी बात है आप कृपा कर मुझे यह बतलाइये कि आप को किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ेगी।" सुयेन-च्वांग ने उत्तर दिया, "मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।"

यात्रा की तैयारी

इस पर राजा ने आज्ञा दी कि आचार्य को स्वर्ण मुद्रएँ तथा आवश्यक वस्तुएँ दी जांय। कुमार-राजा ने भी बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएँ दीं। परन्तु आचार्य ने उनमें से एक भी नहीं स्वीकार किया। कुमार-राजा की दी वस्तुओं में से उसने केवल एक उपरिधान (Cape)[1] स्वीकार किया जिसे 'हो-ला-ली' (हरि) कहते हैं। यह चमड़े का था और इस पर मुलायम बाल थे। इससे मार्ग में वर्षा से रक्षा होती थी।

इस प्रकार वह विदा हुआ। राजा बहुत से आदमियों को साथ लेकर १० ली तक उसके साथ आया और तब लौटा। बिदा होते समय सब के आँखों में आँसू भर आये और उनका गला भर आया। आचार्य ने अपनी पुस्तकें और मूर्त्तियाँ उत्तर भारत के 'उदित्त' नामक राजा के सिपाहियों के सिपुर्द कर दिया था कि वे उन्हें घोड़े पर लाद कर लिवाते जायँ। परन्तु वे बहुत धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। इसी लिये शिलादित्य राजा ने एक बड़े हाथी पर २००० स्वर्ण मुद्राएँ और १०००० चाँदी के टुकड़े लदवा कर उदित्त राजा के सिपाहियों के साथ कर दिया जिससे आचार्य के मार्ग-व्यय का काम चले।

विदा लेकर प्रस्थान करने के तीन दिन पश्चात राजा शिलादित्य

---

[1] Cape का अर्थ आस्तीन-रहित अचकन से होता है। यह संभवतः वर्षा से बचने के लिए चमड़े का लबादा था जिसके ऊपर बाल थे।

बिदा

कुमार-राजा और ध्रुवभट्ट के साथ सैकड़ों सवारों को लेकर फिर आचार्य से मिलने और विदा लेने आया। आचार्य के प्रति उसकी ऐसा श्रद्धा थी। तब उसने तीन 'ता-क्वान' (मार्ग प्रदर्शक) उसके साथ कर दिये। ऐसे कर्मचारियों को 'मो-हो-तो-लो' (महत्तर) कहते हैं। राजा ने बारीक सूती कपड़े पर कुछ पत्र भी लिखवाये और उस पर लाल की मुद्रा लगाई। इन पत्रों को राजा ने 'ता-क्वान' को दिया कि मार्ग में पड़नेवाले देशों के राजाओं को देना। इसमें लिखा था कि आप लोग कृपा कर आचार्य के लिए सवारी आदि का प्रबंध कर दीजिए जिसमें सुयेन-च्वाँग चीन देश की सीमा प्रान्त तक पहुँच सके।

प्रयाग जनपद से आचार्य दक्षिण-पश्चिम जंगल होकर सात दिन का मार्ग चलकर कौशांबी पहुँचा। नगर के दक्षिण वह स्थान है जहाँ गोशीर सेठ ने भगवान बुद्ध को बाटिका अर्पण की थी।

पवित्र स्थानों का दर्शन करके आचार्य उदित राजा के साथ उत्तर-पश्चिम एक मास कुछ दिन तक अनेक देशों से होकर चला। उसने पुनः स्वर्ग की सीढ़ियों का दर्शन किया और उत्तर-पश्चिम तीन योजन की यात्रा करके वह 'पि-लो-ना-न' (वीरासन) जनपद् की राजानगरी में पहुँचा। यहाँ वह दो मास रुका और अपने सिंहप्रभ और सिंहचन्द्र नामक दो सह-पाठियों के साथ उसने 'कोष-संपरिग्रह-शास्त्र' तथा 'विद्या-मात्र-सिद्धि-शास्त्र' पर विचार करता रहा। वहाँ लोगों ने उसका स्वागत किया।

यहाँ पहुँच कर आचार्य ने 'योग-शास्त्र-करिका' और 'अभिधर्म-शास्त्र' पर व्याख्यान देना आरंभ किया। दो मास के बाद उसने विदा ली और उत्तर-पश्चिम मार्ग से १ मास से कुछ ऊपर की यात्रा की। अनेक जनपदों से होकर वह 'चे-लन-ता' (जालँधर) जनपद पहुँचा। यह भारत का प्रधान नगर है। यहाँ आचार्य एक मास ठहरा।

उदित राजा ने उसके साथ आदमी कर दिये। उनको साथ लेकर

मार्ग में

पश्चिम ओर यात्रा करके २० दिन में आचार्य सिंहपुर जनपद पहुँचा। उत्तर के रहनेवाले १०० भिक्षु, पुस्तकों और प्रतिमाओं की देखरेख में नियुक्त थे। आचार्य के साथ पहुँचाने वालों को देख उन पर भरोसा कर ये लोग भी आचार्य के साथ हो लिये। यहाँ चोर डाकू बहुत लगते हैं इस लिए आचार्य ने, इस डर से कि कहीं उनसे मुड़भेड़ में ये ग्रंथ और मूर्तियाँ नष्ट न हो जायँ, यह नियम बनाया कि एक भिक्षु आगे-आगे चले और यदि उसे कोई डाकू मिले तो उससे कह दे कि हम लोग बहुत दूर से धर्म की खोज में आये थे और अब हम लोग धर्मग्रंथ मूर्त्तियाँ तथा अन्य पवित्र वस्तुएँ लिये जा रहें हैं। हम लोगों की प्रार्थना है कि आप लोग हमारे 'दानपति' होकर हमसे क्रोध न कर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार २० दिन तक यात्रा करके वे लोग तक्षशिला जनपद पहुँचे। आचार्य ने यहाँ उस स्थान का दर्शन किया जहाँ चन्द्रप्रभ राजा ने हज़ार बार अपना सिर काट कर चढ़ा दिया था।

इस जनपद के उत्तर-पूर्व ५० योजन पर काश्मीर देश है। यहाँ के राजा ने आचार्य को बुलाने के लिये दूत भेजे थे। परन्तु हाथियों पर बहुत बोझ था इस लिये वह नहीं जा सका।

यहाँ सात दिन रुककर वह फिर उत्तर-पश्चिम दिशा में चला और तीन दिन चलकर सिंधु नदी के तट पर पहुँचा। नदी की चौड़ाई ५ या ६ ली थी। पुस्तकें, मूर्त्तियाँ तथा अपने साथियों को आचार्य ने नाव से पार भेजा और स्वयं हाथी पर चढ़कर वह नदी पार हुआ।

आचार्य ने नाव के साथ एक पुरुष को कर दिया था कि वह पुस्तकों और भारत से लाये हुए फूल के बीजों की देख-रेख करता रहे। जब नावें बीच नदी में पहुँचीं तो एकाएक आँधी आइ और लहरें उठने लगीं। नाव झकोरें खाकर डूबते-डूबते बची। पुस्तकों की देख-रेख करने वाला

नदी में गिर गया। लोगों ने उसे बचाया परन्तु ५० सूत्र ग्रन्थ और बहुत से फूलों के बीज पानी में डूब गये।

कपिशा का राजा 'उ-तो-किआ-हन-च' (उतखण्ड) में रहता था। आचार्य का आना सुनकर वह स्वयं उसका दर्शन करने नदी (सिंधु) तट पर पहुँचा और उसे साथ ले गया। राजा ने आचार्य से कहा, "मुझे ज्ञात हुआ है कि आचार्य की बहुत सी पुस्तकें नदी में डूब गई हैं। आप भारत से फूल और फलों के बीज तो नहीं लाये थे ?"

कपिशा

आचार्य ने कहा, "हाँ ! लाया तो था।"

"बस यही कारण है," राजा ने उत्तर दिया, "कि आँधी आई थी और नाव डूब गई थी। यह प्राचीन समय से होता आया है कि यदि कोई यहाँ के फूल आदि के बीज लेकर नदी पार करने का प्रयत्न करता है तो ऐसी ही दुर्घटनाएँ होती हैं।"

आचार्य राजा के साथ नगर लौट गया और वहाँ के विहार में ५० दिन के लगभग ठहरा। ग्रन्थों को डूब जाने के कारण उसने कुछ लोगों को 'उद्यान' भेजा कि वे जाकर कश्यपीय संप्रदाय के त्रिपिटक की प्रतिलिपि कर लावें।

काशमीर के राजा ने जब सुना कि आचार्य उसके राज्य के निकट आया है तो वह दूरी का ख्याल न करके स्वयँ उससे मिलने आया और उसका दर्शन करके कुछ दिन ठहर कर लौट गया।

आचार्य कपिशा के राजा के साथ उत्तर-पश्चिम दिशा में एक मास तक यात्रा करके सीमा प्रान्त के जनपद 'लान-पो' (लमगान) पहुँचा।

लमगान

राजा (लमगान नृप) ने अपने युवराज को अगुआनी के लिए भेजा कि वह नगर के लोगों और भिक्षु संघ सहित झंडा आदि लेकर आचार्य को नगर में लिवा लावे।

अब राजा और आचार्य सुयेन-च्वाँग धीरे-धीरे नगर की ओर चले। इनके पहुँचने पर कई सहस्र भिक्षु और गृहस्थ झंडे आदि लेकर उसके स्वागत के लिए मिले।

आचार्य को देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उसे प्रणाम करके, चारों ओर से घेर कर जयघोष करते हुए वे आचार्य का ले चले। नगर में पहुँच कर उन लोगों ने आचार्य को महायान के विहार में ठहराया। इस अवसर पर राजा ने २½ मास तक मोक्ष-महादान दिया और संघ एकत्र कर उत्सव मनाया।

फिर ठीक दक्षिण दिशा में जाकर वह १५ दिन में 'फ-ला-ना' (वरण) देश पहुँचा और यहाँ उसने पवित्र स्थान का दर्शन किया।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम यात्रा कर वह 'ओ-पो-किन' (अवकन) जनपद में ठहरा। यहाँ से उत्तर-पश्चिम चलकर आचार्य 'चौ-कु-च' (सौकुट वा चौकुट) जनपद पहुँचा।

वर्दस्थान

यहाँ से उत्तर २०० ली की यात्राकर के आचार्य 'फो-ली-शी' जनपद और 'सा-तंग-न' जनपद (वर्दस्थान) पहुँचा[1]। यहाँ से पूर्व जाकर वे लोग कपिशा की सीमा पर पहुँचे। यहाँ पर राजा ने पुनः सात दिन तक दान आदि दिया। इसके पश्चात आचार्य ने देश की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा माँगी। उत्तर-पूर्व दिशा में एक योजन जाकर वे लोग 'कु-लु-स-पंग' (क्रोसपम्) पहुँचे और यहाँ से राजा से विदा लेकर आचार्य उत्तर दिशा में चला।

राजा ने उसके साथ एक प्रधान कर्मचारी कर दिया जिसके साथ सैकड़ों आदमी थे कि वे लोग आचार्य को हिम पर्वत के पार पहुँचा दें और उसने आचार्य के मार्ग के लिए, लकड़ी, खाद्य सामग्री आदि आवश्यक वस्तुएँ इन आदमियों के हाथ भेजीं।

---

[1] दोनों नाम एक ही नाम के दो अंग हैं। वास्तव में को-ली-शी-स-तंग-ह (वर्दस्थान) के लिए आया है। बील।

चढ़ाई

सात दिन यात्राकर वे लोग एक पर्वत के शिखर पर पहुँचे। यह पर्वत अपनी ऊँची-ऊँची दुरूह चोटियों और भयानक दर्रों के लिए प्रसिद्ध था। ये दूर से विचित्र आकार के दीख पड़ते हैं। कहीं समतल भूमि थी फिर ऊँची चढ़ाई पड़ती थी। मार्ग बराबर न था। इस पर्वत को पार करने में जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं उनका वर्णन करना असंभव है।

इस स्थान से घोड़े पर चढ़कर चलना असंभव था। आचार्य दण्ड के सहारे चलता था।

सात दिन बाद आचार्य अपने साथियों के साथ एक ऊँचे दर्रे के निकट पहुँचा जिसके नीचे एक १०० घरों का गाँव था। लोग भेड़ चराते थे। ये भेड़ें गदहों के बराबर होती हैं। इसी गाँव में उसने संध्या हो जाने के कारण रात बिताई। यहाँ एक ग्रामवासी को ठीक किया कि वह ऊँट पर चढ़कर आगे का पहाड़ी रास्ता बतलावे।

इस मार्ग में अनेक वर्फ़ की नदियाँ और हिमकुण्ड हैं। यदि पथिक पथप्रदर्शक के पद-चिन्ह को देखकर न चले तो उसके खड्ड में गिर कर प्राण देने का भय रहता है।

प्रातः काल से संध्या तक वे लोग हिमशिखर को पार करते रहे। आचार्य के साथ केवल सात भिक्षु, बीस नोकर, एक हाथी, दस गदहे और चार घोड़े थे। दूसरे दिन वे लोग दर्रे के नीचे पहुँचे। दुर्गम मार्ग से घूमते-फिरते वे लोग ऐसे स्थान पर पहुँचे जो देखने में बरफ़ से ढँकी भूमि मालूम पड़ती थी पर वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि यह सफ़ेद पत्थर की चट्टान है। यह चोटी बड़ी ऊँची थी यहाँ तक कि चारों ओर से बादल से घिरे होने पर भी ऊपर हिमपात नहीं होता[1]।

---

[1]संभवतः आशय यह है कि बादल वहाँ तक नहीं पहुँचते थे वरन नीचे ही रहते हैं।

संध्या होते-होते वे लोग पर्वत की चोटी पर पहुँचे। वायु ऐसी शीतल थी कि किसी यात्री का उस पर रुकने का साहस न हुआ।

इस पर्वत पर कहीं वृक्षादि नहीं हैं केवल पत्थरों के ढोके पड़े हैं। ऊँची-ऊँची पतली चोटियाँ नंगी खड़ी हैं। इसके आगे पर्वत इतना ऊँचा है कि जब वायु तेज़ चलती है तो पक्षिगण उसे उड़ कर पार नहीं कर सकते। इस पहाड़ी के दक्षिण से उत्तर पहाड़ी तक कई सौ पग का अंतर है। उसे पार करने पर अच्छा मार्ग मिलता है। इससे ऊँचा पर्वत जंबूद्वीप भर में नहीं मिलेगा।

तुषार देश

आचार्य उत्तर-पश्चिम कई ली पहाड़ से उतर कर एक समतल भूमि में पहुँचा और वहीं उसने रात के लिए अपना डेरा डाला। प्रातःकाल वह फिर आगे चला और पाँच या छः दिन में पहाड़ से उतर कर 'अंत-त-लो-फो-पो' (अंतराव, अंदराब) जनपद पहुँचा। यह प्राचीन 'तू-हो-लो' (तुषार, या तुखार) देश है।

यहाँ तीन संघाराम हैं जिनमें कुछ (बीस से अधिक) भिक्षु हैं। ये 'महासंघिक' संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहाँ अशोक राजा का बनवाया एक स्तूप है।

आचार्य यहाँ ५ दिन तक ठहरा और तब उत्तर-पश्चिम ४०० ली जाकर, पहाड़ से उतर कर वह 'क्वो-सेह-तो' (खोष्ट) जनपद पहुँचा। यह भी प्राचीन तुषार देश का एक अंग है।

यहाँ से उत्तर पश्चिम दिशा में चलकर पर्वत की बगल बगल ३०० ली चलकर आचार्य 'होह' (कुंदुज) जनपद पहुँचा जो 'ओक्सस' (पो-सू) नदी के किनारे है। यह तुषार देश की पूर्वी सीमा है। प्रधान नगर नदी के दक्षिणीय तट पर बसा है।

शे-हू-खान

आचार्य ने सुना कि 'शे-हू-खान' का भतीजा शे-हू के नाम से तुषार पर शासन कर रहा है तो वह उसके पड़ाव में गया और वहीं एक मास तक रहा। शे-हू ने कुछ

सिपाही साथ कर दिये। उनको साथ लेकर आचार्य अपने साथ के व्यापारी पथिकों सहित पूर्व दिशा में दो दिन की यात्रा करके 'मुंग-किन' (मुनजन) पहुँचा। इसी से मिले हुए 'ओ-लि-नी' (अहरंग) 'हो-लो-हु' (रोह) 'कि-ली-स-मो' (कृष्मा या किष्म) 'पि-लि-हो' (परिक) आदि देश हैं। ये सब जनपद प्राचीन तुषार देश (राज्य) के अंतर्गत थे।

'मुंग-किन' से पूर्व जाकर पर्वतों में ३०० ली की यात्रा करके आचार्य साथियों सहित 'हि-मो-त-लो' (हिमतल) देश पहुँचा। यह देश भी प्राचीन तुषार राज्य के अंतर्गत था। यहाँ के निवासियों का रहन-सहन तुह-कियुह तुर्कों की भाँति था। केवल अंतर इतना था कि यहाँ विवाहित स्त्रियाँ अपने सिर पर ३ फुट लंबी लकड़ी का सींग बाँधती हैं। इसके दो भागों से पति के माता पिता का बोध होता है। बड़े हिस्से से श्वसुर का और छोटे से सास का। जो मर जाता है उसका भाग निकाल दिया जाता है यदि दोनों मर जाते हैं तो संपूर्ण सींग निकाल दिया जाता है।

वदख़शाँ

यहाँ से पूर्व दिशा में २०० ली जाकर वे लोग 'पो-तो-च' (पो-तो-चंग-न या वदख़शाँ) पहुँचे। यह भी प्राचीन तुषार राज्य का अंग था। यहाँ आचार्य को हिम के कारण एक मास से ऊपर रुकना पड़ा।

यहाँ से पहाड़ों में से होकर २०० ली की यात्रा करके वे लोग 'कि-पो-किन' (यमगान) जनपद पहुँचे।

यहाँ से दक्षिण-पूर्व पहाड़ी, दुर्गम प्रदेश में ३०० ली का मार्ग चलकर वे लोग 'कु-लंग-न' (कुरान) देश पहुँचे।

तमस्थिति

यहाँ से उत्तर-पूर्व पहाड़ों को पार कर ५०० ली चलकर वे लोग 'त-मो-सी-ते-ती' (तमस्थिति) जनपद पहुँचे। यह देश वक्षु के किनारे दो पर्वतों के बीच है। यहाँ अच्छे घोड़े पाये जाते हैं। देखने में नाटे पर बड़े मजबूत होते हैं।

यहाँ के लोग उजड्ड, क्रोधी और देखने में भद्दे होते हैं। उनकी आँखें नीले-हरे रंग की होती हैं जो अन्य देश वालों से भिन्न हैं। यहाँ दस संघाराम हैं। राजधानी का नाम 'ह्वान-तो-तो' है। इसमें एक संघाराम है जो किसी प्राचीन राजा का बनवाया है। उस संघाराम में भगवान बुद्ध की पत्थर की एक प्रतिमा है। इसके ऊपर एक सोनहला ताँबे का गोल छत्र है जिसमें रत्न जड़े हैं। यह बुद्ध की प्रतिमा के ऊपर अधर में लटकता है। जब लोग पूजा करने आते हैं तो यह छत्र घूमने लगता है। जब वे लोग चले जाते हैं तो यह भी रुक जाता है। कोई इस अलौकिक बात का कारण नहीं बता सकता।

इस जनपद के उत्तर पहाड़ों के उस पार **'शी-कि-नी'** (शिखानन) देश है।

शंभी

'ता-मो-सी-ते-ती' से चलकर आचार्य **'शंग-मी'** (शंभी) जनपद पहुँचा। यहाँ से पूर्व दिशा में चलकर पहाड़ों को पार कर ७०० ली पर पामीर की घाटी मिली। यह घाटी (उपत्यका) १००० ली पूर्व-पश्चिम और १०० ली उत्तर-दक्षिण है। यह दो हिमाच्छादित पर्वतों के बीच है। ऐसा जान पड़ता है मानो यह उपत्यका **'शुङ्ग-लीन'** पर्वतों के बीच है। यहाँ ग्रीष्म और वसंत में भी बराबर हिमपात हुआ करता है। भूमि सदा वर्फ़ से ढँकी रहती है। वृक्षादि कहीं नहीं हैं। बीज बोने से उगता नहीं। सारा प्रदेश उजाड़ है। कोई आदमी यहाँ नहीं बसता।

इस उपत्यका के बीच में एक झील है जो पूरब-पश्चिम २०० ली और उत्तर-दक्षिण ५० ली है यह जंबुद्वीप के बीच में बड़ी ऊँचाई पर है। उसका आर-पार नहीं दिखाई पड़ता। इसमें अनेक प्रकार के जंतु रहते हैं। उनका कोलाहल ऐसा जान पड़ता है मानों सैकड़ों कारखानों में खट-खट हो रहा हो।

यहाँ १० फुट ऊँची चिड़ियाँ दिखाई पड़ीं। इनके अंडे घड़े के बराबर थे। इन्हीं को तजिक या 'तिऊ-ची' का 'कु-कोह' पक्षि कहते हैं।[1]

झील के पश्चिम भाग से एक नदी निकलती है जो पश्चिम दिशा में बहती हुई 'ता-मो-सी-ती' (तमस्थिति) की पूर्वीय सीमा पर पहुँचकर वक्षु नदी में मिलती है और पश्चिम की ओर चलकर सागर से मिलती है। पर्वत की सारी नदियाँ पश्चिम की ओर बहकर मिलती हैं।

झील

झील के पूर्वी भाग से एक बड़ी नदी 'की·शा' (कासगर) जनपद की ओर जाती है और देश की पश्चिमीय सीमा पर सीता नदी से मिलकर बहती हुई पूर्व दिशा से चलकर समुद्र में गिरती है। इसी तरह और नदियाँ पूर्व की ओर बहकर मिलती हैं।

उपत्यका के दक्षिण पर्वतों के उस पार 'पो-लू-लो' (बोलोर) देश है। यहाँ बहुत सोना और चाँदी होता है। स्वर्ण अग्नि वर्ण होता है। यह झील उत्तर-दक्षिण अनवतप्त झील से मिली है।

इस दून (उपत्यका) से पूर्वीय दिशा में पहाड़ी दर्रों, शिखरों और हिमाच्छादित मार्गों से ५०० ली चलकर वे लोग 'के-पान-तो' जनपद पहुँचे। नगर के दोनों ओर ऊँचे पर्वत हैं। उत्तर में सीता नदी है। यह नदी पूरब ओर समुद्र में गिरती है। लवण सागर से मिलकर यह भूमि में धँस जाती है और 'शीह-शी' पर्वत के पास निकलती है। यहीं हमारे पीत नदी का उद्गम है।

यहाँ का राजा बड़ा बुद्धिमान था। उसके वंश से बहुत से शासक हुए। कहा जाता है कि यह 'चीन-देव-गोत्र'[2] के वंश का है। राजा के प्राचीन प्रासाद में एक संघाराम है जो प्राचीन समय में आचार्य कुमार जीव का संघाराम था। यह आचार्य तक्षशिला देश का निवासी था। वह नित्य ३२,००० सूत्र पाठ करता और उन्हें लिख डालता था। वह

---

[1] संभवतः यह शुतुरमुर्ग पक्षि था।

[2] अर्थात चीन के देवता के वंश का है।

बड़ा धार्मिक था। रचना करने में वह बड़ा कुशल था। उसने बीसों शास्त्रों की रचना की थी जिनकी दूर-दूर प्रसिद्धि थी। वह 'सौतांत्रिक संप्रदाय' का प्रथम आचार्य था।

कुमारलब्ध

इस समय पूरब में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन और उत्तर में कुमार-जीव (संभवतः कुमार-लब्ध) प्रसिद्ध विद्वान जीवित थे। ये अपने काल के जीवित सूर्य थे। कुमारलब्ध की ख्याति इतनी बढ़ी थी कि प्राचीन काल के एक राजा ने तक्षशिला पर चढ़ाई की कि वह आचार्य का दर्शन कर उसे अपने यहाँ ले जावे।

नगर के दक्षिण पूर्व ३०० ली पर एक बड़ी गुफा है जिसमें दो कमरे हैं। प्रत्येक में एक अर्हत ध्यानावस्थित बैठा है। वे चुपचाप निश्चल बैठे हैं। उनका शरीर बड़ा दुर्बल दिखाई पड़ता है परन्तु उनके शरीर में कहीं क्षय नहीं हुआ है यद्यपि ७०० वर्ष से ऊपर उनको इस दशा में बैठे हो गये हैं।

फिर डाकू

आचार्य सुयेन-च्वांग इस देश में २० दिन से ऊपर रहा और तब उत्तर-पूर्व दिशा में पाँच दिन यात्रा करने पर उसे डाकू मिले। व्यापारी और उसके साथी डरकर पहाड़ों में भाग गये। भागने में हाथी पानी में डूब कर मर गया।

डाकुओं के निकल जाने पर वे लोग धीरे-धीरे पूरब की ओर चले और दर्रों, पर्वतों को धैर्यपूर्वक उतरते, शीत सहते हुए चले। ८०० ली चलने के बाद वे 'सुंग-लिन' पर्वत से बाहर हुए और 'उ-शा' (ओच) जनपद पहुँचे।

अर्हत

प्रधान नगर के पश्चिम २०० ली पर एक पर्वत है जिसमें दर्रे और प्रपात हैं। एक ऊँचे शिखर पर एक स्तूप है। पुरानी कथा है कि कई सौ वर्ष हुए वज्रपात (विद्युत पात) से पर्वत फट गया था और एक दर्रे के खुलने पर लोगों ने

देखा कि एक विशालकाय भिक्षु उसमें ध्यान लगाये बैठा है और उसकी जटा की लटें उसके कंधों और मुख पर पड़ी हैं। कुछ लकड़ी काटने वालों ने यह देखकर राजा को समाचार दिया। वह स्वयं उनका दर्शन पूजन करने गया।

चारों ओर समाचार फैलने पर दूर-दूर से लोग उनका दर्शन और पूजन करने आये। राजा को कुतूहल हुआ कि यह कौन व्यक्ति है।

एक भिक्षु ने कहा, "ये अर्हत है जो संसार छोड़कर समाधि लगाकर बैठे हैं। इनको समाधि लगाये बहुत काल हो गये हैं इसी से उनकी जटाएँ इतनी बड़ी हो गई हैं।"

राजा ने कहा, "यदि तुम्हें ज्ञात हो तो उन्हें जगाने का उपाय करो।" उसने उत्तर दिया, "जो बहुत दिनों से बिना आहार के रहता है तो जब वह समाधि से उठता है तो उसका शरीर सड़ने लगता है। इसलिए पहले उसके शरीर पर मक्खन मलवाइये। मलने से उनके शरीर की नसें मुलायम हो जांयगी। फिर आप घंटा बजावाइये। उसका शब्द सुनकर संभव है ये अपने आसन से उठें।"

राजा ने उत्तर दिया, "ठीक कहते हो।" यह कह कर उसने मक्खन मालिश करके घंटा बजवाया।

अर्हत ने आंखे खोलीं और उसने चारों ओर देखकर पूछा, "तुम लोग कौन हो जो कषाय वस्त्र पहने हो?"

लोगों ने उत्तर दिया, "हम भिक्षु हैं?"

उसने पूछा, "हमारे प्रभु तथागत कश्यप कहाँ है?"

लोगों ने उत्तर दिया, "वे तो निर्वाण को प्राप्त हो गये।"

यह सुनकर वह रोने लगा और फिर कहने लगा, "शाक्य मुनि को बोधिज्ञान प्राप्त हुआ?"

उत्तर मिला, "हाँ, और वे भी धर्म उपदेश देकर निर्वाण को प्राप्त हो गये।"

यह सुनकर उसने आँखे बंद कर लीं और अपने हाथों से अपनी जटा हटा कर वह आकाश में उठा और अपने अध्यात्मिकबल से अग्नि प्रज्वलित कर उसने अपने शरीर को भस्म कर डाला। उसकी आस्थियाँ भूमि पर गिरि पड़ीं। राजा तथा अन्य उपथित लोगों ने अस्थियाँ एकत्र कीं और उन पर एक स्तूप बनवा दिया। यही स्तूप अब भी वहाँ वर्तमान था।

कासगर

यहाँ से उत्तर ५०० ली जाने पर 'की-शा' (कासगर) जनपद मिला। यहाँ से ५०० ली जाकर सीता नदी को पार कर वे लोग एक बड़ी पर्वतमाला को लाँघकर 'चा-किउ-किश्र' (यरकियांग—यारकंद) जनपद पहुँचे।

इस देश के दक्षिण में एक ऊँचा पर्वत है जिसमें बहुत से आले की तरह गुफाएँ हैं जिनमें भारत के बहुत बोधिज्ञान प्राप्त योगी आकर रहते हैं। इनमें से बहुत से यहीं निर्वाण पद को प्राप्त हुए हैं।

इस समय यहाँ तीन अर्हत इन गुफाओं में रहते हैं। ये लोग समाधि में बैठे थे। जब इनकी दाढ़ी और बाल बहुत बढ़ जाते हैं तो भिक्षु लोग जाकर उन्हें काट देते हैं।

इस देश में महायान के बहुत से सूत्र हैं। कुल मिला कर दसों ग्रन्थ होंगे जिनमें १ लाख श्लोक होंगे।

खोतन

यहाँ से ८०० ली पूर्व दिशा में यात्रा करके आचार्य 'कुस्तन' (खोतन) जनपद पहुँचा। यह देश बड़ा सा मैदान है जो रेत और पत्थरों से ढँका है। यहाँ की भूमि खेती योग्य है और बड़ी उपजाऊ है। ये लोग ऊनी कंबल, पशमीना, रेशमी तफ़ता है बनाते हैं। यहाँ स्वेत और श्याम अश्वक (Jade) बहुत होते हैं। जलवायु मातदिल है। यहाँ के साधारण लोग धर्मभीरु और सभ्य हैं। ये विद्या और संगीत का आदर करते हैं। ये साहसी और सत्यवादी हैं। इन गुणों में, ये तातर (हू) लोगों से भिन्न हैं। इनकी

लिपि भारत की लिपि की भाँति है। केवल यत्रतत्र थोड़ा अंतर है। ये लोग बौद्ध धर्म के बड़े भक्त हैं।

यहाँ १०० संघाराम हैं जिनमें ५००० भिक्षु रहते हैं। ये लोग महायान के अनुयायी हैं। राजा सुशिक्षित और सभ्य, वीर और युद्ध-कला में कुशल है। गुणियों का आदर करता है। वह अपने को 'पि-शा-सन' (वैश्रवण) के वंश का बतलाता है।

इस राजा का पूर्वज, अशोक राजा का जेष्ठ पुत्र था जो तक्षशिला में रहता था। राज्य से निकाल दिये जाने पर वह हिमालय के उत्तर चला गया। अपने पशुओं के चराते हुए वह इस स्थान पर पहुँचा और यहीं उसने अपना घर बनाया।

कुछ दिनों बाद पुत्र की कामना से वह वैश्रवण देव के मंदिर में उपासना के हेतु गया। देवता का ललाट फट गया और उसमें से एक पुत्र शिशु निकल आया और इसी के साथ-साथ मंदिर के सामने भूमि से सुगंधित दूध की धारा निकली। इसी को पिलाकर उसने लड़के का पालन किया।

राजा की मृत्यु के पश्चात वह सिंहासन पर बैठा और उसने अपना धर्म-राज्य स्थापित किया। वर्तमान शासक उसी का वंशज है। उसके पूर्वज पृथ्वी के स्तन से पले थे इसी कारण इस देश का नाम 'कु-स्तेन' (कु-स्तन) पड़ा जिसका अर्थ है 'पृथ्वी का स्तन।'

आचार्य सुयेन-च्वाँग इस जनपद की सीमा पार कर 'पो-किया-इ'? (भगप ?) नगर पहुँचा। यहाँ बुद्ध की बैठी मुद्रा की सात फुट ऊँची प्रतिमा है। उसके सिर पर रत्नजटित मुकुट है और उसका स्वरूप भव्य और भक्ति उत्पन्न करने वाला है। वृद्ध लोग कहते थे कि यह प्रतिमा पहले काश्मीर में थी। आह्वान करने से यहाँ आई है।

प्राचीन काल में एक अर्हत थे जिनका एक श्रमणेर शिष्य कुष्ट रोग से पीड़ित था। मरते समय उसकी इच्छा चोमई खाने की हुई।

उसके गुरु ने अपनी दिव्यदृष्टि से देखा कि वह खाद्य पदार्थ खुतन में मिल सकता है। इसलिए उसने अपनी ऋद्धि शक्ति से वहाँ पहुँचकर, और वहाँ से खाद्य पदार्थ भिक्षा करके श्रमणेर के पास पहुँचा दिया। उसे खाने के पश्चात उसकी इच्छा उसी देश में जन्म लेने की हुई। उसकी प्रार्थना विफल नहीं हुई और मृत्यु के पश्चात् उसको वहाँ के राज-कुल में जन्म मिला।

सिंहासन पाकर उसने आस-पास के राजाओं को पराजित करने की इच्छा की। यह सोचकर उसने पर्वतों को पारकर अपने पूर्वजन्म स्थान पर सेना लेकर चढ़ाई की। काशमीर के राजा ने अपनी सेना एकत्र की कि उसका सामना किया जाय। इस पर अर्हत ने कहा कि लड़ने की आवश्यकता नहीं है मैं स्वयं उसके पास जाता हूँ।

अर्हत खुतन के राजा के पास पहुँचा और उसने उससे कहा, "तुम्हारे लालच और अन्याय के कारण बड़ी हानि हुई है। यह देखो यह तुम्हारा चीवर है जिसे तुम पूर्व जन्म में पहनते थे जब तुम यहाँ श्रमणेर के रूप में थे।"

चीवर देखकर राजा (मूर्द्धज) को ज्ञान हो आया और वह पूर्व जन्म का स्मरण कर बड़ा लज्जित हुआ। उसने तुरन्त काशमीर के राजा से मैत्री कर ली और विजय करने का संकल्प त्याग दिया। देश लौटते समय वह अपने साथ, वह प्रतिमा ले आया जिसकी वह पूर्व जन्म में पूजा किया करता था। मूर्ति इस स्थान तक आई पर इसके आगे न बढ़ी। राजा तथा उसकी सारी सेना प्रयत्न करके हार गयी पर वह न टली। तब राजा ने वहीं उसके लिए एक विहार बनवा दिया और भिक्षुओं को उसकी पूजा आदि करने के लिए नियुक्त कर दिया। उसने मूर्ति के सिर पर अपना बहुमूल्य मुकुट रख दिया। यह मुकुट अभी तक है। इसमें बहुमूल्य रत्न जड़े हैं। देखनेवाले उसे देखकर आश्चर्य में आ जाते हैं।

आचार्य यहाँ सात दिन तक ठहरा।

जब खोतन के राजा ने सुना कि सुयेन-च्वांग उसके देश में आ रहा है तो वह स्वयं उस से मिलने गया और दूसरे दिन उसे स्वयं मार्ग तक पहुँचाने गया।

राजा अपनी राजधानी लौटते समय अपने पुत्र को आचार्य की सेवा-सत्कार करने के लिए छोड़ गया। दो दिन बाद उसने अपने महत्तर को भेजा कि वह आचार्य को साथ ले आवे।

नगर के ४० ली पर पहुँचकर आचार्य ने रात को विश्राम किया।

दूसरे दिन राजा भिक्षु और गृहस्थों को साथ लेकर, बाजे, पताके आदि लेकर, धूप जलाते तथा पुष्पवर्षा करते हुए आचार्य को लेकर अपने नगर में प्रवेश कराया और उसे सर्वास्तिवादियों के हीनयान विहार में ठहराया।

नगर के दक्षिण १० ली पर एक बड़ा संघाराम है। यह उस देश के किसी प्राचीन काल के राजा ने 'वैरोचन अर्हत' के लिए बनवाया था। ये अर्हत काशमीर के रहनेवाले थे। जब इस देश में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं हुआ था, उस समय से यहाँ आकर एक वन में ध्यान लगा कर जा बैठे। कुछ लोगों को उनके वस्त्रों आदि के देखने से भय उत्पन्न हुआ। उन लोगों ने राजा से जाकर कहा। राजा स्वयं अर्हत को देखने आया।

राजा ने पूछा, "आप कौन हैं जो इस प्रकार वन में बैठे हैं?"

अर्हत ने उत्तर दिया, "मैं तथागत का शिष्य हूँ। मेरा धर्म मुझे एकान्त में रहने की व्यवस्था करता है।"

राजा ने पूछा, "तथागत कौन थे?"

उसने उत्तर दिया, "तथागत बुद्ध की उपाधि है। वे प्राचीन समय में हुए थे और शुद्धोदन राजा के ज्येष्ट पुत्र थे। इनका नाम स्वर्वार्थसिद्ध था। मनुष्यों को दुख के सागर में पड़े देख उन्हें अनाथ,

शरणरहित पाकर, उनपर करुणा करके उन्होंने 'चक्रवर्ती' के सातों रत्नों (सुखों) और १००० पुत्रों (बाँधवों) और चार द्वीपों के राज्य को त्यागकर एकान्त निर्जन बन में बोधिज्ञान की खोज की और छ वर्षों की तपस्या के बाद फल स्वरूप स्वर्ण की भाँति पीत शरीर लेकर उन्होंने आत्मज्ञान (बोधिज्ञान) लाभ किया। उन्होंने मृगदाव में सद्धर्म का उपदेश किया और निर्वाण प्राप्ति का उपाय बतलाया और गृद्धकूट आदि पर्वतों पर धर्म का प्रकाश फैलाते हुए ८० वर्ष तक लोगों को सुख और लाभ का मार्ग दिखाकर निर्वाण पद प्राप्त किया। मृत्यु के पश्चात उनके उपदेश और उनके चिन्ह मनुष्यों के लिए रह गये। ये अब भी वर्तमान हैं।

"आप अपने पूर्वजन्म के पुण्यों से इस जन्म में राजत्व को प्राप्त हुए हैं। आपको उचित है कि इस धर्म के संरक्षक बनकर इस धर्मचक्र का पालन करें जिसमें जो लोग इसका मर्म समझें वे इसे पाकर मोक्ष लाभ करें लेकिन आप (महाराज) तो चुप हैं। क्या आपने हमारी बात नहीं सुनी[1] ?"

राजा ने उत्तर दिया, "अपने संचित अगणित पापों के कारण मैं भगवान बुद्ध का नाम नहीं सुन सका। परन्तु आप ऐसे महात्माओं को धन्यवाद है जिन्होंने मुझ में बची-खुची सद्वृत्ति जगा दी है। अब मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उनकी (बुद्ध) की प्रतिमा की पूजा करूँ और उनके उपदेशों पर आचरण करूँ।"

अर्हत ने उत्तर दिया, "आप अपने वचन निर्वाह का आनंद उठाना चाहते हैं तो पहले एक संघाराम बनवाइये। मूर्ति उसमें स्वयं आ जायगी।"

---

[1]इसका अनुवाद यों होना चाहिए—'परन्तु आप की बुद्धि को क्या कहा जाय यदि आप हमारी बात पर कान नहीं करते'—बील।

इस पर राजा लौट गया और अपने मंत्रियों से परामर्श करके उसने एक उचित स्थान चुना और कारीगरों को बुलाकर उसने अर्हत से विहार की इमारत का नक़शा पूछा। इसके पश्चात कार्य आरंभ हुआ।

जब विहार बन चुका तो राजा ने पूछा, "संघाराम तो बनकर तैयार हो गया। केवल मूर्ति की कमी है।"

अर्हत ने कहा, "आप केवल ध्यान मात्र कीजिए प्रतिमा तुरन्त आ जायगी।" राजा अपने मंत्रियों, पौर-जानपदों के साथ फूल चढ़ाकर, धूप जलाकर, ध्यानावस्थित खड़ा हुआ। क्षण भर में आकाश मार्ग से रत्नजटित, प्रकाशमान चौकी पर बैठी हुई एक भव्य प्रतिमा उतरी। राजा उसे देखकर बड़ा आनंदित हुआ और उसने अपने भाग्य को धन्य माना। उसने अर्हत से धर्मोपदेश करने को कहा। उसने यह विहार पहले-पहल लोगों के पूजा-पाठ के लिये बनवाया था। इसी से इसको लोग प्रथम संघाराम मानते हैं।

आचार्य की पुस्तकें नदी में डूब गई थीं अतः यहाँ पहुँचकर उसने तुरन्त 'क्रूची' और 'सू-ली' (कासग़र) आदमी भेजा कि दूसरी ढूँढ़कर लावें। जबतक वे पुस्तकें लेकर लौटें—इस बीच में आचार्य ने 'काउ-चाँग' के एक युवक को पत्र लेकर व्यापारियों के साथ जाने को कहा कि वह पत्र को राजा के दर्बार में उपस्थित करे और समाचार दे कि वह भिक्षु, जो कुछ दिन हुए ब्राह्मणों के देश (भारत) धर्म की जिज्ञासा में गया था अब लौटकर 'खुतन' पहुँचा है।

पत्र में आचार्य ने लिखा,—"श्रमण सुयेन-च्वाँग की ओर से लिखित। सुयेन-च्वाँग ने 'मा-युंग', 'कि-चेन' और 'चिंग-ह्वान' धर्मोपदेशकों का नाम सुना था। 'फूह-सिंह' अपनी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध था। 'चो-त्सो' ने स्वयं 'ची' के दक्षिण में पाठशालाएँ स्थापित की थीं। ये सब विद्वानों के लक्षण हैं। यदि हम इन प्राचीन विद्वानों की, जिन्होंने विद्या की खोज की, प्रशंसा करते हैं तो उनकी कितनी प्रशंसा होनी चाहिए जो

बुद्ध भगवान के कल्याणकारी धर्म और तीनों लोक के बंधन से मुक्त करनेवाले त्रिपिटक की खोज करते हैं। हम कैसे उनके प्रयत्नों की उपेक्षा अथवा उनके परिश्रमों की अवहेलना कर सकते हैं। भारत से चीन में आये हुए अधूरे धर्म को जानकर सुयेन-च्वाँग की यह उत्कट अभिलाषा थी कि वह अपने जीवन का मोह न करके यथार्थ धर्म के सच्चे स्वरूप की खोज करे। इसी विचार से 'चेंग-क्वान'[1] सम्राट के राज्य के तीसरे वर्ष के चौथे महीने में मैंने आपत्तियों और कठिनाइयों का जोखिम उठाकर भारत के लिए चुपके से प्रस्थान किया था। मैंने बालुका-भूमि पार की, हिमाच्छादित पहाड़ के शिखरों और दर्रों को पार किया, लौह-द्वार के दुर्गम मार्ग से यात्रा की, लूह के थपेड़ों को सहन किया—इस प्रकार 'चाँ-गान' से चलकर, नव-राजगृह' पहुँचा।

"इस प्रकार ५०,००० ली की यात्रा समाप्त की और सहस्रों प्रकार के आचार विचार, रीति, रस्म देखते हुए, अनेक विपत्तियों का सामना करते हुए ईश्वर की कृपा से मैं निर्विघ्न यहाँ तक पहुँचा हूँ। अब मैं आपको निरापद लौटने और अपने संकल्प के पूर्ण होने पर संतुष्ट मन से आशीर्वाद भेजता हूँ। मैंने गृद्धकूट पर्वत का दर्शन किया, बोधि वृक्ष की पूजा की। मैंने अश्रुतपूर्व (नये) तीर्थों के दर्शन किये, नये ग्रंथों को सुना (पढ़ा), दिव्य चमत्कार देखे, अपने सम्राट के गुणों की प्रशंसा की और उसके प्रति वहाँ के लोगों में आदर, प्रशंसा का भाव उत्पन्न किया, नाना देशों में यात्रा करते हुए मैंने १७ वर्ष व्यतीत किये। अब मैं प्रयाग से चलकर कपिशा होता हुआ 'सुंग-लिंग' पर्वत को पारकर, पामीर की उपत्यका (दून) से होता हुआ खोतन पहुँचा हूँ।

"मेरा बड़ा हाथी पानी में डूब गया और मैं अपने साथ लाये हुए अनेक ग्रंथों को ले चलने का कोई प्रबंध न कर सका। इस हेतु मुझे

---

[1] ६३० ईसवी

यहाँ रुकना पड़ा है। उनके ले चलने का प्रबंध हो जाते ही मैं तुरन्त यहाँ से चलकर महाराज के दर्शन करूँगा। इस हेतु मैं 'काउ-चाँग' के एक 'मा-ह्यु-आन-ची' नामक गृहस्थ को जो व्यापारियों के साथ जा रहा है आपका सेवा में भेजता हूँ कि वह पत्र देकर मेरा संदेश आपसे निवेदन करे।"

इसके पश्चात आचार्य रात-दिन खोतन के भिक्षुओं को योग, अभिधर्म, कोष, और महायान सपरिग्रहं शास्त्र के सिद्धान्तों को समझाने में व्यतीत करने लगा।

राजा भिक्षुओं और गृहस्थ-श्रावकोंसहित उसका उपदेश सुनने आता। नित्य सहस्रों धर्म स्वीकार करते।

सात आठ मास बीतने पर राजा का शुभ संदेश लेकर दूत लौटा जिसका आशय यह था, "आपके इतनी दूर की यात्रा करके लौटने का समाचार पाकर मेरे आनंद का पार न रहा। मेरी प्रार्थना है कि आप तुरन्त यहाँ आकर मुझे अपना दर्शन दीजिए। इस जनपद के भिक्षुओं को जो 'फान' (भारत की भाषा) समझते हैं और धर्मग्रंथों को पढ़ सकते हैं मैंने आपसे मिलने तथा आपका स्वागत करने के लिए कह दिया है। मैंने खोतन की परिषद तथा अन्य देशों को लिख दिया है कि आपके साथ अच्छा पथप्रदर्शक कर दें और आपके लिए आवश्यकतानुसार वाहन आदि का प्रबंध कर दें। 'तु-च्वाँग' के मजिस्ट्रेट (अधिकारी) को लिख दिया है वह स्वयं आपको वालुकाभूमि के पार पहुँचा दें और मैंने 'शेन-शेन' के शासन को भी लिख दिया है कि वे आप से 'शो-मोह' में मिलें।

आचार्य ने यह पत्र पाकर तुरन्त प्रस्थान किया। खोतन के राजा ने उसे बहुत सी खाद्य सामग्री भेंट की।

राजा नगर से पूर्व दिशा में ३०० ली जाकर आचार्य 'पी-मो' नगर पहुँचा। यहाँ बुद्ध भगवान की खड़ी मुद्रा की एक चन्दन की प्रतिमा

है। यह तीस फुट ऊँची है। देखने में बड़ी भव्य और प्रभावोत्पादक है। इसमें बड़े दिव्यगुण बतलाये जाते हैं। कहते हैं कि रोगी यदि अपने रुग्ण अंग के अनुसार प्रतिमा के उसी अंग पर सोने का पत्र लगवा देता है तो उसका रोग तुरन्त अच्छा हो जाता है। जो लोग किसी विशेष कामना से इस प्रतिमा की पूजा करते हैं तो उनकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है। प्राचीन कथा है कि बुद्ध के जीवन काल में कौशांबी के राजा उदयन ने यह प्रतिमा बनवाई थी। भगवान के परिनिर्वाण के पश्चात यह प्रतिमा स्वयं आकाशमार्ग से इस देश के उत्तर में पहुँची और 'हो-लो-लो-किय' (राघ-वा उरघ ?) नगर में उतरी। इसके पश्चात वह यहाँ आई। लोग कहते हैं जब शाक्यमुनि का धर्म लुप्त हो जायगा तो यह प्रतिमा भी नाग लोक (पाताल) में चली जायगी।

'पी-मो' नगर से पूर्व दिशा में चलकर बालू और पत्थरों से ढँकी भूमि मिली। २०० ली जाकर आचार्य 'नि-रूंग' नगर पहुँचा। इसके पूर्व में मरुभूमि है जिसमें न पानी है न वनस्पति। लू चला करती है और भूत-प्रेत बहुत मिलते हैं। यहाँ कोई मार्ग नहीं है। यात्री रास्ते में पड़ी हुई मनुष्यों और पशुओं की अस्थियों आदि को देखकर मार्ग समझते हैं। इस मरुभूमि के पार करने की कठिनाइयों और कष्टों का एक बार वर्णन हो चुका है[1]।

१०० ली यात्रा करने पर प्राचीन 'तुषार' देश मिलता है। यहाँ से ६०० ली चलकर प्राचीन 'ची-मो-तो-न' पड़ता है, जिसे 'नी-मो' प्रदेश कहते हैं।

यहाँ उत्तर-पूर्व १००० ली की यात्राकर आचार्य प्राचीन 'न-फो-पो' जनपद पहुँचा जिसे आजकल 'लियु-लान'[2] कहते हैं।

---

[1]देखो अध्याय ३ [2]अर्थात—'शेन-शेन'।

यहाँ से बहुत कुछ घूमते-फिरते वह चीन देश की सीमा पर पहुँचा। यहाँ पहुँचकर आचार्य ने दूत के साथ घोड़े और ऊँट खोतन लौटा दिये। लौटाते समय आचार्य ने उन्हें पुरस्कार देना चाहा पर उन लोगों ने अस्वीकार किया।

'शा-चाउ' पहुँचकर आचार्य ने सम्राट (चीन) के पास पत्र भेजा। सम्राट उस समय 'लो-याँग' के प्रसाद में थे। पत्र पाकर उन्हें ज्ञात हुआ कि सुयेन-च्वाँग धीरे-धीरे आ रहा है। उसने तब 'लो-याँग' के राजकुमार 'फोंग-हुआन-लिंग' के जो पश्चिमी प्रदेशों (सी-गन-फू) के गवर्नर (शासक) थे और जिसे 'चो-पो-शे' की पदवी मिली थी, आज्ञा दी कि राज-कर्मचारी भेजो जो जाकर आचार्य को ले आवें।

आचार्य को मालूम हुआ कि सम्राट उससे यह पूछना चाहते हैं कि वह बिना आज्ञा लिये देश के बाहर क्यों गया। इस लिये सुयेन-च्वाँग बिना बिलंब किये आगे बढ़ा और जलमार्ग (नहर) से पहुँचा।

वहाँ पहुँचने पर राज-कर्मचारी उसके स्वागत का कोई प्रबंध न कर सके। उन्हें कुछ मालूम ही न था। परन्तु समाचार शीघ्रता से फैल गया और नगर के लोग आचार्य का दर्शन करने के लिये झुण्ड के झुण्ड आ पहुँचे। इतनी भीड़ एकत्र हो गई कि वह नाव से उत्तर न सका और उसे रात नहर पर ही बितानी पड़ी।

अध्याय ६

उपसंहार

नाव से उतर कर सुयेन-च्वांग पश्चिम देश की राजधानी (सि-गन-फू) में ले जाया गया। जहाँ वह ६४५ ई० के बसंत ऋतु में पहुँचा। दूसरे दिन जब संघाराम के भिक्षु लोग पताका आदि लेकर आचार्य को 'होंग-फू' संघाराम में ले गये। यहाँ आचार्य ने भारत से लाई हुई बहुमूल्य वस्तुओं को संस्थापित किया। जिनकी सूची यह है।

१ १५० तथागत के शरीर के भाग (धातु खण्ड)।

२. मगध जनपद के प्रागबोधि पर्वत की नाग गुफा की भगवान की छाया की सोने की प्रतिमा। एक चमकदार सिंहासन भी जो ३ फुट ३ इंच ऊँचा था। यह मूर्ति बनारस के मृगदाव में चक्रपवर्तन मुद्रा की है।

३· भगवान की चन्दन की प्रतिमा जिसका तीन फुट पांच इंच ऊँचा चमकदार सिंहासन है। यह कौशांबी के राजा उदयन की बनवाई चन्दन की मूर्ति की नकल है।

४. चमकदार २ फुट ९ इंच ऊँचा सिंहासनसहित बुद्ध की मूर्ति जो कपिथ की मूर्ति के अनुरूप है जब भगवान स्वर्ग से रत्न सौपान पर होकर उतरे थे।

५. मगध में गृद्धकूट पर्वत पर 'सद्धर्म पुण्डरीक' तथा अन्य सूत्रों का उपदेश करते समय भगवान बुद्ध की मुद्रावाली मूर्ति के अनुरूप ४ फुट ऊँचे चमकदार सिंहासनसहित चाँदी की एक प्रतिमा।

६. नगरहार जनपद में जहाँ बुद्ध ने विषैले नाग को परास्त किया

था वहाँ की छाया के अनुरूप भगवान की एक ३ फुट ५ इंच चमकदार सिंहासनसहित एक मूर्ति।

७. १ फुट ३ इंच ऊँचे सिंहासनसहित धर्मोपदेश के लिए वैशाली प्रस्थान करते समय की मुद्रा के अनुरूप बुद्ध भगवान की एक चन्दन की प्रतिमा।

आचार्य ने इन मूर्तियों के अतिरिक्त इस विहार में महायान के वे ग्रंथ भी रखे जो वह पश्चिम (भारत) से लाया था। इसमें २२४ सूत्र[1], १९२ शास्त्र[2] स्थविर संप्रदाय के, १५ ग्रंथ जिनमें सूत्र, विनय और शास्त्र थे; इतनी ही संख्या सम्मतीय निकाय के ग्रंथों की थी; २२ ग्रंथ महिशासक निकाय के थे, ६७ सर्वास्तिवाद निकाय के, १७ ग्रंथ कश्यपीय निकाय के, ४२ ग्रंथ धर्मगुप्त निकाय के, ३६ हेतु विद्याशास्त्र, १३ शब्द विद्याशास्त्र—कुल मिलाकर ५२० प्रतियाँ थीं जिनमें ६५७ ग्रंथ थे। ये ग्रंथ २० घोड़ों पर लद कर आये थे।

पश्चिमीय प्रदेश के प्रधान राजकर्मचारी से मिलकर आचार्य सम्राट् से मिलने 'लो-याँग' चला और वहाँ पहुँचकर उनसे मिला। सम्राट 'आई-इवाँन' प्रसाद में आचार्य से बहुत अच्छी तरह मिला। बैठने पर सम्राट ने उससे बिना राजा की आज्ञा लिये देश के बाहर जाने का कारण पूछा। आचार्य ने उत्तर दिया कि मैंने तो तीन बार जाने के पहले आपके पास आज्ञा के लिये प्रार्थना पत्र भेजा परन्तु उसका कोई उत्तर न मिला। मैं अपनी इच्छा को रोक न सका अतः मैं बिना आज्ञा लिये ही चला गया।

बहुत बात-चीत होने के पश्चात् आचार्य सुयेन-च्वाँग ने राजा का वेतनभोगी (पुरोहित) होना नहीं स्वीकार किया और वह 'सि-गाँन-फू' के 'हाँग-फू' संघाराम में रहने लगा और वहाँ उसने ग्रंथों का अनुवाद

---

[1] जूलियन के अनुसार १२४ ? [2] जूलियन के अनुसार ९२

का कार्य आरंभ किया। सन् ६४७ ई० के अन्त में उसने (१) बोधि-सत्व-पिटक-सूत्र, (२) बुद्ध-भूमि-सूत्र, (३) षट्मुख-धारिणी आदि का अनुवाद समाप्त कर दिया था।

सन् ६४८ ई० के अन्त में आचार्य ने ५८ ग्रंथों का कार्य- समाप्त किया। इसी में सम्राट के आदेशानुसार लिखित 'सि-यु-की'[1] भी था।

सन् ६४९ ई० सम्राट के आज्ञानुसार वह 'स्से एन' विहार में रहने लगा। यहाँ रहकर वह मृत्युपर्यंत अनुवाद का काय करता रहा।

सन् ६५० ई० में सम्राट 'ताइ-सुंग' का शरीरपात हो गया और 'कावो-त्सुंग' सिंहासन पर वैठा।

यहाँ आने के पश्चात् आचार्य ने दत्तचित होकर अनुवाद का काय आरंभ कर दिया। वह नित्य प्रातःकाल उठता और कुछ जलपान करके चार घण्टे धर्मग्रंथों का उपदेश करता। संघाराम की संरक्षा का भार अपने ऊपर होने के कारण उसे भिक्षुओं के विनय आदि की भी देख-रेख करनी पड़ती थी।

अनुवाद

१०० से ऊपर भिक्षु उसका व्याख्यान सुनते थे। इन सब कामों के होते हुए भी उसने अपने अनुवाद के कार्य में शिथिलता नहीं आने दी। आचार्य लोगों को भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सिद्धान्तों और भारत के प्रसिद्ध विद्वानों का मत समझाता। राजकुमार, राजपुरुष आदि जो उसका व्याख्यान सुनने कभी-कभी आते तो वे आचार्य की विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा करते।

सन् ६५२ ई० आचार्य ने 'हाँग-फू' संघाराम के दक्षिण द्वार पर एक विहार बनवाया और उसी में अपनी मूर्तियाँ और पुस्तकें सुरक्षित रखीं। इस विहार की ऊँचाई १८० फुट थी। यह भारत के स्तूपों के अनुरूप बना था। इसमें पाँच मंज़िल थे। चारों ओर वेष्टनी थी। सबसे

[1] इसका अर्थ है—'राजा की आज्ञा से लिखा'।

ऊँचे मंज़िल पर एक कमरा बना था जिसमें आचार्य के अनुवादित दो ग्रंथों पर भूतपूर्व सम्राट तथा राजकुमार के हाथों लिखी भूमिका रखी थी।

ई० सन् ६५४ में मध्यदेश (मध्य भारत) के महाबोधि विहार (गया) के प्रतिनिधि आचार्य से मिलने गये और उन लोगों ने आचार्य को विश्वास दिलाया कि भारत के लोगों के हृदय में अभी तक आपके लिए बड़ा आदर है। सुयेन-च्वाँग ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा, "सिंधु पार करते हुए हमारे जो ग्रंथ डूब गये हैं कृपाकर उनकी प्रतिलिपि भेजवा दीजिएगा।"

सन् ६५५ ई० से ६५६ ई० तक आचार्य ग्रंथों का अनुवाद करता रहा। इसी बीच आचार्य रोगग्रस्त हो गया और उसे यात्रा करते समय पहाड़ों में जो रोग हुआ था वही उभड़ आया। सम्राट के भेजे हुए चिकित्सकों की सहायता से वह कुछ अच्छा हो गया। सन् ६५८ में आचार्य सम्राट के साथ 'लो-याँग' से पश्चिमीय प्रदेश की राजधानी में आया और नये बने हुए 'सि-मिंग' विहार में ठहरा। अपनी वृद्धावस्था आई हुई समझ उसे चिंता हुई कि कदाचित वह प्रज्ञापरिमित शास्त्र का अनुवाद न कर सकेगा। इस उद्देश से वह राजाज्ञा लेकर 'यूह-फा' प्रासाद में शान्तिपूर्वक रहकर कार्य-संपादन के निमित्त चला गया। ई० ६५९ में वह यहाँ प्रासाद में आया और ६६० ई० में उसने अनुवाद आरंभ किया। भारत से लायी महाप्रज्ञापरिमित सूत्र की प्रतिलिपि में २,००,००० श्लोक थे, अतः उसने संक्षिप्त संस्करण लिखने का विचार किया, परन्तु उसे स्वप्न हुआ कि ऐसा मत करो। आचार्य भारत से इस ग्रंथ की तीन प्रतिलिपियाँ लाया था। वह उन तीनों को मिलाकर पाठ शुद्ध करने लगा जिसमें वह शोधित प्रति से अनुवाद कर सके। उसकी अवस्था इस समय ६५ वर्ष की थी। अपनी मृत्यु निकट जान वह लगातार अनुवाद करता रहा जिसमें कि वह अपनी मृत्यु के पूर्व अनुवाद समाप्त कर सके।

'लुंग-सो' (ई० ६६१) के दसवें मास में उसका मनोरथ पूर्ण था। 'महाप्रज्ञापरमित सूत्र' का सम्पूर्ण शास्त्र ६०० अध्यायों और १०२ खण्डों में था।

'रत्न-कूट-सूत्र' का अनुवाद करने की इच्छा को रोककर वह मृत्यु की प्रतीक्षा में शान्तिचित रहने लगा। आचार्य ने कुल ७४ ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें कुल मिलाकर १३३५ अध्याय थे। इनके अतिरिक्त आचार्य ने स्वयँ अपने हाथों अनेक सूत्रों की प्रतिलिपि की थी। जब वह इन सब का पाठ सुन चुका (और आवश्यक संशोधन कर चुका) तो उसने आँखे बन्द कर लीं और शान्त पूर्वक पड़ गया। मैत्रेय बोधिसत्व[1] की स्तुति करके वह दिनोदिन क्षीण होता गया और अन्त में सन् ई० ६६४ के दसवें मास के तेरहवें दिन वह परलोक सिधारा।

मृत्यु

उसका शरीर पश्चिम प्रदेश की राजधानी में एक समाधि में रखा गया था परन्तु ई० ६६९ में सम्राट की आज्ञा से उसका शरीरावशेष 'फान-च्युयेन' की उपत्यका के उत्तर एक स्थान में रख गया और उसके ऊपर एक स्मारक स्तूप बनवा दिया गया।

इति
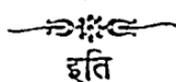
[1] आचार्य की अभिलाषा थी कि वह तुषित स्वर्ग में मैत्रेय के दर्शन करे। मैत्रेय भावी बोधिसत्व हैं। ये प्रेम के अवतार होंगे।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	८	के	ने	५१	४	आपने	अपने
६	२०	अपने	अपनी	५१	६	बहन के	बहन
१२	२	मात्रा	पात्रा			पुत्रने	का पुत्र
१२	२३	की	के	५१	८	अपने	अपनी
१४	१२	अनुभति	अनुमति	५४	६	उसके	उसकी
१६	५	योग	योग्य	७०	१३	को	के
२०	२	के	की	७०	१६	काष्ट	काष्ठ
२६	२३	चद्र	क्षुद्र	७१	२१	प्रचीन	प्राचीन
३०	२०	आश्चार्य	आश्चर्य	७६	१८	की	के
३१	७	आचार	आचार्य	८२	१	खगता	खपाता
३२	१८	पादपीढ़	पादपीठ	८२	१०	की	का
३३	१४	आचार्य ने	आचार्य	८२	२१	नदिये	नदियाँ
३३	२०	अपने	अपनी	८६	३	गत	गर्त
३७	३	दर्हुचाने	पहुँचाने	८६	६	से	में
३९	१७	जाता	जाती	१०२	२०	मधूक-	केवा
३९	२३	को	के			महुआ	
४३	७	पढ	पढ़	१०३	१३	धर्मधि	धर्मांध
४९	१८	उसकी	उसका	१०४	२	प्रसाद	प्रासाद
४९	१९	थी	था	१०४	६	भगवन	भगवान
४९	७	के के	के	११२	६	को	के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	८	की	के	१८१	१६	देशाओं	देशों
११८	१५	हैं थे	थे	१८१	२२	पहराई	फहराई
१२१	२०	भिक्षुवों	भिक्षुओं	१८३	२२	उसका-	उसकी-
१२८	८	प्रचीन	प्राचीन			जड़	जड़
१३०	२५	भालू	भालु	१८५	५	राजा	राज
१३२	१३	नुएड्रवर्धन	पुएड्रवर्धन	१८७	६	होते	होने
१३६	४	क्रोद्ध	क्रोध	१६०	१५	सब के	सब की
१३६	६	क्षत्रि	क्षत्रिय	१६१	२२	करिका	कारिका
१३७	११	कहने वह	वह कहने	२०१	२१	कश्यय	कश्यप
१४३	६	आपने	अपने	२०२	३	आस्थियों	अस्थियाँ
१४४	१३	भी वह	भी	२०२	२३	तफ़ता है	तफ़ता
१६४	१३	रज, तम	सत, तम	२०३	१२	लालट	ललाट
१६८	७	सकेगा	सकेंगे	२११	८	के जो	को जो
१७५	१७	उपचय	उपलब्ध	२१३	१६	प्रसाद	प्रासाद
१७७	१७	समर्थ	समर्थन				